जीवन विवेचन

भाग 6(क)

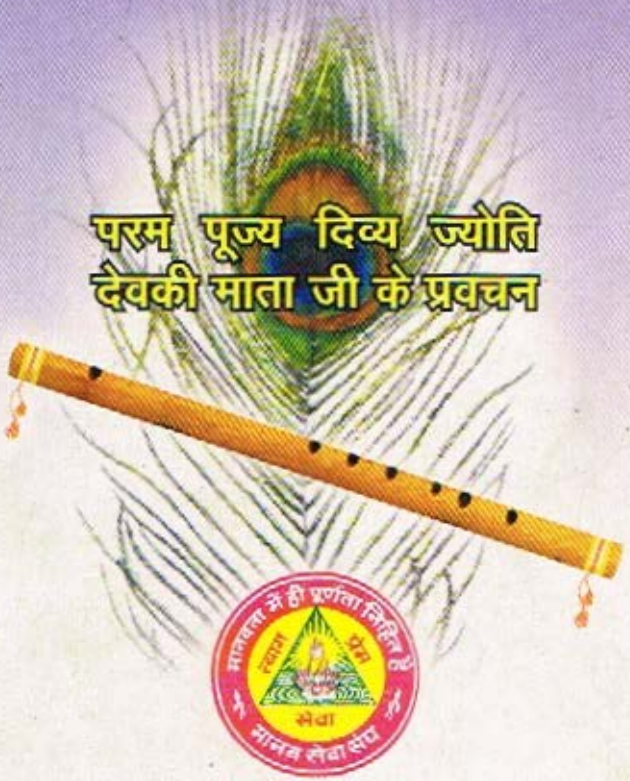

परम पूज्य दिव्य ज्योति
देवकी माता जी के प्रवचन

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

जीवन विवेचन

भाग 6(क)

परम पूज्या दिव्य ज्योति
देवकी माताजी के प्रवचन

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

- प्रकाशक :

  मानव सेवा संघ
  वृन्दावन (मथुरा)
  पिन-281121

© सर्वाधिकारी प्रकाशक

- प्रथम संस्करण—2008

- 3000 प्रतियाँ

- मूल्य : 20.00 रुपये

- मुद्रक :
  पावन प्रिन्टर्स,
  मेरठ

प्रार्थना

('प्रार्थना' आस्तिक प्राणी का जीवन है।)

मेरे नाथ!
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में,
त्याग का बल,
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल
प्रदान करें;
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायें।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

प्रार्थना

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्व समर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणा सागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

वस्तु खिंचती है धरती की ओर
मनुष्य खिंचता है अनन्त की ओर।

अनुक्रमणिका

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
1.	प्रवचन 1	...7
2.	प्रवचन 2	...21
3.	प्रवचन 3	...35
4.	प्रवचन 4	...53
5.	प्रवचन 5	...69
6.	प्रवचन 6	...87
7.	प्रवचन 7	...101
8.	प्रवचन 8	...118
9.	प्रवचन 9	...132
10.	प्रवचन 10	...147

मेरा मुझमें कुछ नहीं,
जो कुछ है सो तोर !

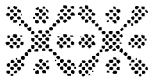

श्री सद्गुरु देव के श्री चरणों में
सादर सविनय समर्पित

—विनीता देवकी

प्रवचन 1

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो।

हम सब लोग मानव हैं और जीवन की सफलता की चर्चा कर रहे हैं। एक प्रारम्भिक बात जिससे हमें सहायता मिलती है, वह जीवन के प्रति दृष्टिकोण का परिवर्तन है। अभी जैसा कि स्वामी जी महाराज ने बताया कि हम रुचि-पूर्ति के लिए जीते हैं, माँग-पूर्ति के लिए नहीं जीते हैं। तो रुचि-पूर्ति को प्रधानता देंगे तो शरीर और संसार की आसक्ति नहीं मिट सकेगी। अपने लोगों को क्या करना चाहिए कि पहले इस दृष्टिकोण को बदल डालें। अपने द्वारा अकेले में बैठकर विचार कर लिया जाए।

रुचि-पूर्ति का जीवन बिताते हुए बहुत समय निकल गया। रुचि पूरी हुई नहीं। इसलिए अब मानव-जीवन को सफल बनाने का प्रश्न आया अपने सामने। तो इस उद्देश्य की पूर्ति पर विशेष ध्यान देना है। रुचि-पूर्ति के प्रश्न को छोड़ देना है। अब से हमारा दैनिक जीवन जो होगा, प्रतिदिन का जीना मेरा होगा वह माँग-पूर्ति के उद्देश्य से होगा रुचि-पूर्ति के उद्देश्य से नहीं होगा। ऐसा निश्चय अपने द्वारा सभी भाई-बहन ले सकते हैं, जिनके पास बहुत डिग्रियाँ हों वे भी और जो बिल्कुल पढ़े लिखे न हों वे भी। श्रीसम्पन्न हों वे भी और जो गरीबी में समय बिता रहे हैं वे भी। उच्च वर्ण में जन्मे हैं तब भी और निम्न वर्ण में जन्मे हैं तब भी। शहर में रहते हैं तो भी और गाँव में रहते हैं तो भी। शिक्षा-दीक्षा से, धन सम्पत्ति से, पद योग्यता से, रहन-सहन के स्थान आदि से, जीवन के सत्य का direct सम्बन्ध नहीं है। धन हो तो, न हो तो क्या? पढ़ना, लिखना किया हो, न किया हो तो क्या?

रुचि-पूर्ति के परिणाम में पराधीनता, अभाव और नीरसता, हम सब लोगों ने पाई है और उसके दुःख को हम लोग जानते हैं। मानव होने के

नाते दुःख-रहित जीवन की माँग, सभी भाई बहनों में होती है। स्कूल में, विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय में पढ़ना-लिखना करके इस चीज को सीखते हैं, ऐसी बात नहीं है। बिल्कुल बे पढ़े-लिखे भोले-भाले व्यक्ति, जिन्होंने संत कबीर की तरह—'मसि कागद छूयो नहीं।' संत कबीर की भाषा है—यह। उन्होंने अपने मुख से अपने बेपढ़े लिखे होने का प्रमाण दिया है—'मसि कागद छुयो नहीं।' कागज और स्याही उन्होंने हाथ से छुए ही नहीं। तो ऐसे भी भाई-बहन हैं हम लोगों के आस-पास उनसे भी बुला करके, बैठा करके पूछिये कि भई आपके जीवन में सुख और दुःख दोनों आये हैं कि नहीं? तो क्या कहेंगे? आये हैं? कोई नहीं कहते? नहीं। सुख-दुःख दोनों आये हैं। अच्छा तो उसमें से जो दुःख का भाग है, उसको पसन्द करते हो कि मिटाना चाहते हो? मिटाना चाहते हैं।

यह खास व्यक्ति की बात नहीं है। यह मानव मात्र की बात है। दुःख-रहित जीवन सबको चाहिये, मृत्यु-रहित जीवन सबको चाहिये। अभाव और पराधीनता से मुक्त जीवन सबको चाहिये। परम प्रेम के रस से भरा हुआ मीठा-मीठा मधुर-मधुर जीवन सबको चाहिये। अनुभवी संत जन कहते हैं कि स्वाधीनता, अमरत्व और परम प्रेम की सरसता मानव की माँग है। मौलिक माँग है हर भाई-बहन के भीतर यह माँग रहती है। जाग्रत क्यों नहीं हुई? तो पहले पहल ध्यान में जब आया कि मैं मनुष्य हूँ, और मुझे भूख लगी है, मुझे प्यास लगी है। मुझको सुख-दुःख बाँटने के लिए मित्र-मंडली चाहिये। जन सम्पर्क चाहिए और भविष्य में दुःख न आ जाए तो उसके लिए कुछ धन-संग्रह करना चाहिए। और मरने के बाद ठीक प्रकार से अंत्येष्टि हो जाए, तो उसके लिए सुयोग्य संतान चाहिए। पहले व्यक्ति की दृष्टि इन बातों पर जाती है। ये बातें शरीरों से सम्बन्ध रखने वाली हैं। और इनमें भी रुचि-अरुचि, पसंदगी-ना पसंदगी हर व्यक्ति की अपनी-अपनी अलग तरह की होती है और बड़ी भारी भूल हो जाती

है मनुष्य से कि वह सारी शक्ति, सब समय रुचि-पूर्ति पर लगा देता है। रुचिपूर्वक भोजन मिले, रुचिपूर्वक आवास मिले, मन पसंद मित्र-मंडली मिले और शरीर को सब प्रकार से सुख आराम देने के लायक स्थिति बन जाए। इसी पर आदमी का ध्यान चला जाता है। यह ऐसा जाल है कि जितना जितना इस दिशा में प्रयास करते चले जाओ नित नयी समस्याएँ उठती जाती हैं, उठती जाती है। सारी जिन्दगी खप जाती है। मरने की घड़ी तक समस्याएँ खत्म नहीं होती हैं। यह दशा हो जाती है।

अब अपने लोगों को क्या करना है? यहाँ इस पुण्यस्थली पर हम सब लोग जुटे हैं, किस उद्देश्य से इस उद्देश्य से जुटे हैं कि भाई रुचि-पूर्ति के सुख के पीछे दौड़ते-दौड़ते बहुत सारा समय निकल गया। अब शक्ति घटती जा रही है और हमारी अपनी रुचि खत्म नहीं हुई। कपड़ा मिले तो ऐसा खास प्रकार का हो जो अपने को बहुत अच्छा लगता है और भोजन मिले तो ऐसा हो जो अपने को बहुत पसंद आता है। इसके पीछे जिन्दगी का बहुत बड़ा भाग निकल गया। यह बात खत्म नहीं हुई तो अपनी जो माँग है उसे पूरा करने का कौन-सा समय आएगा? उस पर दृष्टि क्यों नहीं गयी? उस पर दृष्टि जानी चाहिए। उस पर विचार करना चाहिए। उस माँग की पूर्ति का उपाय सद्पुरुषों की संगति में सीखना चाहिए। सद्ग्रन्थों में से पढ़ना चाहिए।

यह कौन सोचता है? यह मनुष्य सोचता है। ऐसा कौन सोचता है? जो जीवन की घटनाओं से सबक सीखता है। वह सचेत मनुष्य ऐसा सोच लेता है। और सोच करके उसकी वर्तमान दशा जो है वह दशा उसके सामने स्पष्ट हो जाती है। फिर वह अपने निश्चय को दृढ़ कर लेता है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बदल डालता है। वह क्या कहता है कि रुचि-पूर्ति में तो बहुत सा समय बिता दिया उससे मेरा काम बना नहीं तो आज से अपनी रुचि-पूर्ति के लिए हम नहीं जिएँगे, अपनी माँग-पूर्ति के लिए जिएँगे।

रुचि उसको कहते हैं, जो सदैव पराश्रित और पराधीन बना दे और माँग उसको कहते हैं कि जिसकी पूर्ति में व्यक्ति परम स्वाधीन हो जाए दुःख से मुक्त हो जाए, जन्म मरण के बन्धन से छूट जाए, परम प्रेम से भरपूर हो जाए। तो जो सदा-सदा के लिए रहने वाले तत्त्व हैं, उनकी माँग होती है और जो बनने बिगड़ने वाला जगत् है उसके प्रति रुचि होती है। साधक जन का कर्त्तव्य क्या है? कि आज ही इसी सत्संग भवन में इसी धरती पर बैठे-बैठे हम सब लोग अपनी और देख करके सोच लें कि अब आज से इसी क्षण से आगे कभी भी हम रुचि-पूर्ति को स्थान नहीं देंगे, माँग-पूर्ति के लिए जिएँगे।

ऐसा हम लोग कर सकते हैं कि नहीं? जी! कर सकते हैं। इसमें ऐसा करने में कोई शुभ घड़ी सुदिन अच्छा समय खोज ढूँढकर निकालना जरूरी है? नहीं है। वही शुभ घड़ी है मनुष्य के जीवन में जब कि सत्संग हो। जब आप सत्संग करते हैं तो जिस क्षण में एक सजग व्यक्ति अपने द्वारा सत्संग करता है, वही घड़ी उसके जीवन की शुभ घड़ी हो जाती है। अब सोच कर देखो अपने सम्बन्ध में दृष्टिकोण का परिवर्तन। अब से हम रुचि-पूर्ति को प्रधानता नहीं देंगे, माँग-पूर्ति को प्रधानता देंगे, ऐसा निश्चय करना सत्संग कहलाता है। रुचि-पूर्ति के पीछे पड़े रहना असत् का संग है। उसका त्याग करना सत् का संग है। माँग-पूर्ति के लिए तत्पर हो जाना सत् का संग है। तो बड़े महल के भीतर आपका वास हो तो क्या? और टूटी-फूटी झोंपड़ी में बैठे हों तो क्या? और जंगल में वृक्ष के नीचे अथवा पहाड़ की गुफा में बैठे हैं तो क्या? कोई अन्तर नहीं आता। यदि आप अपने द्वारा यह निश्चय कर लेते हैं कि अब आज से रुचि-पूर्ति के पीछे हम नहीं रहेंगे, माँग-पूर्ति के लिए जिएँगे। बहुत बड़ा विकास आपका होगा जिस समय ऐसा निर्णय आप करेंगे। उसी समय आपके अहम् में परिवर्तन हो जाएगा।

अहम् रूपी अणु की बनावट इतनी अच्छी है कि मनुष्य स्वयं अपनी ही गलत धारणा से असत् के संग में उलझ जाता है और वह स्वयं अपनी ही सही बातों से सत् का संगी बन जाता है। मनुष्य के व्यक्तित्व के विश्लेषण में सैल्फ कनसैप्ट एक बहुत ही प्रधान बात मानी जाती है। सैल्फ कन्सैप्ट, अपने सम्बन्ध में आपने क्या धारणा बनाई ? इसी के आधार पर विचार बदल जाते हैं। व्यक्तित्व बदल जाता है। व्यवहार बदल जाता है। तो सैल्फ कन्सैप्ट से अपने सम्बन्ध में अपनी एक धारणा मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को निर्धारित करती है और उसके रहन-सहन, विचार-व्यवहार सबको नियन्त्रित करती है।

बहुत विस्तार मनुष्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में है। केवल इस एक बात पर कि आपने अपने जीवन के सम्बन्ध में कौन-सी धारणा स्वीकार की है। हमारे शोध कार्य का विषय यही था। सैल्फ कन्सैप्ट पर ही हम रिसर्च कर रहे थे। स्वामी जी के पास बैठ करके मुझे इस बात की बहुत ही विशेषता मालूम हुई। कौन सी बात ? कि भाई, सुख-दुःख के जाल में फँसे हुए बहुत दिन निकल गए कोई अपने में विशेषता आयी नहीं। मनुष्य होने के नाते उसके भीतर से एक आवश्यकता महसूस होती है कि दुःख रहित जीवन चाहिए, अभाव रहित जीवन चाहिए, जन्म-मरण की बाध्यता टूट जानी चाहिए और परम प्रेम का रस जीवन में भर जाना चाहिए।

कोई सम्प्रदाय हो, कोई प्रणाली हो, किसी वर्ग के साधक आप हैं, साकार उपासक हैं, निराकार उपासक हैं। योग के साधक हैं, ज्ञान पंथ के साधक हैं। किस मज़हब को मानने वाले हैं कुछ अन्तर नहीं आता। ये चार बातें सर्व दुःखों की निवृत्ति, परम स्वाधीनता की प्राप्ति, सत्य का बोध, परम प्रेम का रस सबको चाहिए। मानव-मात्र को चाहिए। जिस समय हम लोग अपनी इस मौलिक माँग पर दृष्टि डालते हैं और अपने द्वारा अकेले में बैठकर के निश्चय करते हैं कि भाई मुझे तो माँग की पूर्ति के लिए ही जीना है।अब रुचि-पूर्ति का कोई स्थान नहीं रहा जीवन में। उसी समय

इतना बड़ा विकास अपने भीतर होता है कि आप देखेंगे कि सोते समय यही बात आपके ध्यान में आएगी और स्वप्न काल में पुराने संस्कारों के प्रभाव से कुछ-कुछ स्वप्न बनेंगे तो स्वप्न काल में भी यह आपका निश्चय काम करता रहेगा। और आँखें खुलते ही याद करना नहीं पड़ेगा सहज से इस बात की याद आएगी कि अच्छा सबेरा हो गया, आँखें खुली, अब मुझे उठना है तो मेरी माँग की पूर्ति होनी चाहिये। दुःख-निवृत्ति के लिए मुझे जीना है। परम स्वाधीनता का पुरुषार्थ मुझे करना है परम प्रेमास्पद प्रभु से मुझे मिलना है। इस बात को याद करना नहीं पड़ेगा। आँख खुलते ही यह बात सहज से आपको याद आएगी। क्यों याद आएगी क्योंकि आपने अपने लिए, अपने द्वारा इस जीवन को स्वीकार कर लिया है।

अहम् के परिवर्तन में आपकी स्वीकृति का कितना बड़ा महत्त्व है। इस बात पर ध्यान नहीं जाता तो विचारे भोले-भाले साधक अटके रहते हैं। किस बात पर, कि अब ऐसा करेंगे तो जीवन बदलेगा, तो कोई किसी अनुष्ठान में लगा हुआ है तो कोई किसी संकल्प में लगा हुआ है। कोई तीर्थ यात्रा में लगा हुआ है। कोई खास-खास प्रकार के शुभ कार्य में लगा हुआ है। वे सोचते हैं कि इन प्रकार के कर्मों के द्वारा जीवन बदल जाएगा। तो नहीं बदलता है, ऐसी बात नहीं है। शुभ कर्मों का फल भी बनता है और शुभ संकल्पों की पूर्ति का फल भी बनता है। लेकिन अगर संकल्प-पूर्ति का महत्त्व रह गया, संकल्प निवृत्ति का महत्त्व जीवन में नहीं आया, तो एक शुभ संकल्प के बाद दूसरा, तीसरा, चौथा संकल्प ही संकल्प बनता रहेगा।

यहीं पर मुझे एक उदाहरण मिला। एक युवास्था के संन्यासी, संन्यासी वेश आये मिलने के लिए। डालमिया कोठी में, जहाँ में रहती हूँ। वहीं आये और कहने लगे कि बहन जी आप मुझे नहीं पहचानेंगी, लेकिन मैं आपको पहचानता हूँ, संन्यासी होने के पहले मैं स्वामी जी महाराज

के पास आया करता था। तो प्रणाम किया। अभिवादन किया। बैठाया तो बातचीत होने लगीं। तो कहने लगे कि मैं तीन वर्ष तक उत्तराखण्ड में बद्रीनारायण जी के रास्ते में कहीं पर ऐसा एक अनुष्ठान करके आया हूँ। मैं तीन साल से वहीं पर था। इस वर्ष वह अनुष्ठान पूरा हो गया तो मैं यहाँ आ गया। बहुत अच्छी बात है। फिर कहने लगे कि बहन जी अब मैं एक दूसरे तीर्थ का नाम लिया अमरनाथ, केदारनाथ कुछ कहा होगा मुझे याद नहीं है। कि अब मुझे वैसा ही एक अनुष्ठान वहाँ जाकर करना है। तो आपके पास बहुत से उदार लोग आते हैं तो किसी से कह दीजिएगा, मदद करा दीजिएगा।

तीन वर्ष का वैसा ही एक अनुष्ठान मैं और करना चाहता हूँ। मैंने कहा अच्छी बात है, सुन लिया मैंने बातचीत हो गयी, चले गये। मेरे भीतर एक चिंतन आया मैंने सोचा कि यह सज्जन यह साधक एक संकल्प तीन वर्ष का पूरा करके आया और उससे इसके भीतर अपने आप में संतुष्ट होने वाली बात नहीं आयी। जी ! अगर आ गयी होती तो फिर नए अनुष्ठान का संकल्प नहीं उठता। ठीक है ना ! तो फिर मेरे ध्यान में आया यह समझदार व्यक्ति क्यों नहीं सोचते हैं कि एक बार इस अनुष्ठान को पूरा करने से भीतर में सत्य की अभिव्यक्ति नहीं हुई तो अनुष्ठान के संकल्प को छोड़ देना चाहिए। यह भी ध्यान में नहीं आया। यह मैं शुभ संकल्प की बात कह रही हूँ, अशुभ संकल्पों की बात नहीं कर रही हूँ। मुझे तो ऐसा लगता है कि मनुष्य जैसे ही सजग होता है उसके विवेक के प्रकाश में उसको दिखता ही है कि किसी भी प्रकार के अशुभ कार्यों में उसको हाथ नहीं डालना चाहिए। अशुभ कार्य के लिए मनुष्य के जीवन में कोई स्थान नहीं है। गृहस्थी हो तो क्या, वनस्थी हो तो क्या, समाज सेवी हो तो क्या, वनवासी हो तो क्या। अशुभ कार्यों के लिए तो उसके जीवन में स्थान ही नहीं है। मैं शुभ कार्यों के संकल्प में बँध जाने की

चर्चा आपके सामने कर रही हूँ। तो अगर शुभ संकल्प में भी बँध गए आप तो स्वाधीनता मिली कि पराधीनता मिली? पराधीनता मिली ना? एक संकल्प पूरा करके आए और उसी के समान दूसरा करने का विचार उठ गया। तो गृहवासियों की सम्पत्ति पर दृष्टि चली गयी। तो सत्य के निकट हुए कि दूर हुए? दूर ही हुए। जब उन्होंने अपने मुख से मुझसे कहा कि आपके पास बहुत से लोग आते हैं, उदार लोगों से कह दीजिएगा इस संकल्प की पूर्ति में जिसकी जो इच्छा हो मदद कर दें। तो उन सज्जन पर मुझे मेरी बड़ी सहानुभूति उपजी। भाई के समान प्रिय लगे मुझे। उन्होंने कहा भी था कि स्वामी जी महाराज के पास मैं आया करता था, तो इस नाते से भी वे हमको बहुत प्रिय लगे। मैंने कहा कि ये भला आदमी कहाँ फँस गया? एक संकल्प पूरा हो गया और उसके परिणाम में शांति की अभिव्यक्ति नहीं हुई। अपने आप में संतुष्टि नहीं पैदा हुई। सत्य के निकट होने के भाव में अपने आप में डूब जाने की घड़ी नहीं आयी तो यह प्यारा भाई बेचारा कब तक संकल्पों की पूर्ति के पीछे घर गृहस्थी वालों का मुँह देखता रहेगा।

दुःख हुआ मुझे। इसी जगह सत्संग चल रहा था। वे हमारे प्यारे भाई भी सत्संग में आकर के बैठ गए थे और मैं ऐसे ही बोल रही थी, बोलते-बोलते यह सब मैंने कह दिया। उनका नाम लेकर नहीं। यह तो जीवन की बात है। सच्ची बात है। कहती गयी मैं। अब सोच करके देखिए जो बात पर के सम्बन्ध को स्वीकार करने से जीवन में उत्पन्न हो गयी है। स्व से भिन्न पर की प्रतीति हम लोगों को हो रही है कि नहीं। जी! हो रही है ना! स्व की प्रतीति नहीं होती है और जिसकी प्रतीति होती है वह स्व नही होता। जो आपका दृश्य बन सकता है, वह जीवन नहीं है, यह दार्शनिक सत्य पकड़ में आ रहा है?

जो आपका दृश्य बन सकता है जिसके आप द्रष्टा हो सकते हैं वह जीवन नहीं है। वह स्व नहीं है, पर है। ठीक है ना! तो पर की प्रतीति

हो रही है हम लोगों को। तो जिसकी प्रतीति हो रही है उसी से सम्बन्ध मानने के कारण स्व से विमुख हो गए। ठीक है ! जिसकी प्रतीति हो रही है उसकी आवश्यकता अनुभव करने के कारण उसके चिन्तन में हम फँस गये तो स्व में स्थिति नहीं हुई। जो मुझसे भिन्न दिखाई दे रहा है, जिसकी प्रतीति हो रही है, उससे मैंने नाता-रिश्ता जोड़ लिया, उसके सुख-दुःख में उसकी आसक्ति में उलझ गए। तो जो परम प्रेमास्पद मेरा अपना नित्य सम्बन्धी मुझ में ही नित्य विद्यमान है, उसकी विस्मृति हो गयी। ठीक है ! अब देखो आगे चलो, तो सत्य की अभिव्यक्ति कैसे होगी भाई ! जिसकी प्रतीति हो रही है उसकी आवश्यकता अनुभव मत करो, उसकी जरूरत अनुभव मत करो, उससे सम्बन्ध मत मानो।

उसको महत्त्व मत दो तो उसका चिन्तन छूट जाएगा, उसका लगाव टूट जाएगा, उसका सम्बन्ध टूट जाएगा, मामला खत्म हो गया। इतना ही काम करना है ना। तो असली बात क्या है? जीवन की सफलता में असली बात क्या है? तो असली बात यह है, कि चाहे भगवत् विश्वासी हो करके हम लोग इस बात को स्वीकार करें कि मेरा तो नित्य सम्बन्ध अनन्त परमात्मा से है। एक भगवत् अनुरागी संत के पास बैठ करके अपना दुखड़ा सुना रही थी। मेरा सत्संग ऐसा ही रहा हमेशा। अपने भीतर जो सब गंदगी दिखाई देती वह ही मैं संतों को सुनाती रहती। स्वामी जी महाराज को भी मैंने खूब सुनाया। एक भगवत् अनुरागी संत के पास मैं कह रही थी कि भई देखिए अब सब काम तो ठीक ठाक लगता है, सोचना समझना सब हो गया। अब एक ही बात बाकी है, अब मैं ऐसा चाहती हूँ कि हे प्रभु कौन सी घड़ी वह होगी। कब आपकी ऐसी कृपा होगी कि मुझमें यह मेरे पन का भास जो हो रहा है यह भी खत्म जो जाए। ऐसा मैंने कहा तो बड़े अनुराग में भरकर उन्होंने कहा कि अरे इसके फिकर में आप क्यों पड़ी हैं? उसे सुन्दर रूप दे दो।

किसी दिन आदमी ऐसा सोचता है कि मैं अमुक का बेटा हूँ, अमुक का बाप हूँ, अमुक का पति हूँ, अमुक की पत्नी हूँ, अमुक की बेटी हूँ, तो दुनिया भर का यह सब जंजाल फँसा रखा था किसी दिन। अब उस असत् सम्बन्ध को छोड़ देने के बाद अब अपनी थकान मिटाने की चिन्ता तुम क्यों करो? अपना सुन्दर रूप ले लो—मैं उनका दास हूँ, मैं उनका बालक हूँ, मैं उनका मित्र हूँ, मैं उनका सखा हूँ, मैं उनका गुरु हूँ, मैं उनका शिष्य हूँ, मैं उनकी दासी हूँ, मैं उनकी प्रिया हूँ।

बढ़िया सी स्वीकृति अपने में ले लो। मिटाने के पीछे क्यों पड़े हो? अगर संसार के सम्बन्धों से प्रमादवश तुमको गौरव मालूम होता था कि हम किसी बड़े आदमी के सम्बन्धी हैं तो उससे कम गौरव नहीं होना चाहिए तुम्हारे में कि मैं अनन्त परमात्मा का बालक हूँ। अरे दुनिया के किसी बड़े आदमी से नाता जोड़ करके तुम अपने को गौरवशाली अनुभव करते हो तो तुम तो सचमुच उस अनन्त परमात्मा के अपने हो तो उस गौरव को याद करो, अहम् के नाश का चिन्तन छोड़ दो।

यह तो अपने आप से हो जाएगा उनके प्रेम का रस बढ़ेगा तो इसका कहीं पता चलेगा? कहीं पता नहीं चलेगा। तो साधन के ढंग में आप सोच करके देखिये कि अशुभ क्रियाओं को तो छोड़ ही दो, अशुभ प्रवृत्तियों का तो नाम ही मत लो, उनके तो जीवन में कभी स्थान ही मत दो। शुभ संकल्पों को भी अगर बनाते ही जाओगे, चेन उसका लगाते ही जाओगे तो एक भी संकल्प अपना पूरा करने के लिए रह गया तो न शरीर से छूटते बनेगा न समाज से छूटते बनेगा। न पर की प्रतीति में से आप हट सकेंगे।

यह समग्र प्रतीति ऐसी ही है। परसैप्शन, प्रत्यक्षीकरण, उनकी प्रतीति। इसमें कहीं भी कुछ भी कन्टीन्यूटी नहीं है सातत्य नहीं है, स्थिरता नहीं है। प्रत्येक क्षण में प्रतीति का प्रत्येक दृश्य बदलता ही जा रहा है—वह

तो ऐसा है जिसमें एक क्षण के लिए भी ठहराव नहीं है, उसको पकड़ करके विश्राम पाने की कैसे सोच सकता है आदमी ! दौड़ते हुए को पकड़ करके कोई शान्ति से बैठ सकता है ? नहीं बैठ सकता है ना—तो प्रतीत होने वाली प्रतीति। प्रतीति शब्द का प्रयोग तब किया जाता है जबकि उसका यह अर्थ निकले कि वह कैसा है यह पता नहीं है, अपने को जैसा दिखता है, वैसा मैंने मान लिया। तो पहले तो यही निराधार हो गया।

संसार कैसा है ? ये कोई नहीं जानता, हम सब लोग संसार की तरफ देखते हैं तो एक ही दृश्य, एक ही घटना अलग-अलग व्यक्तियों को अलग-अलग अर्थ बताती है। होता है कि नहीं और एक ही व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाए तो सृष्टि बदल जाती है। सुख-भोग की दृष्टि से देखों तो संसार में बड़ा आकर्षण दिखायी देता है। और संत कबीर जी से पूछो तो क्या कहेंगे—"हाड़ जले जैसे लकड़ी केश जले जैसे घास, सब जग जलता देखिकर कबिरा भया उदास।" तो वह ही संसार है कि दूसरा है ? वह ही है। तो भोगी को बड़ा आकर्षक लगता है, और विवेकी को काल की अग्नि में जल रहा है सब जल रहा है, काल की अग्नि में सब भस्म हो रहा है। और कहीं प्रभु प्रेम के रस से दृष्टि ढक गयी तो "आप छके नैना छके, अधर रहे मुसकाय, छकी दृष्टि जा पर पड़े रोम-रोम छक जाय।" अब क्या हो गया ? संसार वही है कि दूसरा है ? वह ही है। तो ऐसा आप सोच करके देखेंगे कि व्यक्ति की अपनी भूल से संसार की ओर खिंचाव लगता है। और मुझको बड़ा आश्चर्य लगता है, अपने पिछले दिनों की याद कभी-कभी आ जाती है तो ऐसी हँसी आती है कि कितनी नादानी की बात है। देख रहे हो कि सब दौड़-दौड़ करके, दौड़-दौड़ करके भागता जा रहा है।

सबमें परिवर्तन हो रहा है कही एक क्षण के लिए ठहराव नहीं है और उसको पकड़ करके आदमी स्थिर होना चाहता है। कितनी बेवकूफी है बताओ तो सही। अरे जो भागता जा रहा है, वह तुमको विश्राम दे

देगा। जिसमें निरन्तर गतिशीलता है वह तुमको स्थिरता दे देगा। नहीं देगा ना! तो इसका फल क्या होना चाहिए। इस अनुभव का फल यह होना चाहिए कि भाई यहाँ जो कुछ अपने सामने प्रतीत हो रहा है यह किसका है और कैसा है? इसका पता तो हमको अभी नहीं चलेगा, पीछे चलेगा। लेकिन एक बात सच्ची है कि जिसमें एक क्षण के लिए भी ठहराव नहीं है, यह मेरे काम का नहीं है। अपने को क्या चाहिए? अपने को तो परम शांत जीवन चाहिए। अपने को तो परम स्वाधीन जीवन चाहिए, अपने को परम प्रेम चाहिए। इस को अपनी माँग पर दृष्टि रखकर दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लीजिए तो रुचि-पूर्ति का त्याग कर दीजिये आज ही अभी से। और माँग पूर्ति के लिए जीना आरम्भ कीजिए। तो मैंने ऐसा सुना है, ऐसा विश्वास करती हूँ और कुछ-कुछ ऐसा अनुभव भी है कि जिस क्षण से आप यह निश्चय करेंगे कि मुझे रुचि-पूर्ति का जीवन नहीं चाहिए, मुझे तो माँग-पूर्ति का पुरुषार्थ करना है ऐसा आप निश्चय करेंगे तो वे अनन्त सामर्थ्यवान आपके भीतर बिना माँगे वह सामर्थ्य भर देंगे कि जिससे आप पुरुषार्थ पूरा कर सकें। ऐसा होता है और आपको हर्ष की बात सुना दूँ कि उत्तराखण्ड में अनुष्ठान करने का संकल्प लेकर जो गृहस्थी लोगों की सहायता लेने के लिए जो सज्जन आये थे दो चार दिनों तक सुनते-सुनते जाने के समय मुझसे कह कर गए कि बहनजी मैंने अनुष्ठान का संकल्प छोड़ दिया। बहुत मजा आया मुझे, हमने कहा कि चलो एक काम बन गया। तो उनका काम तो हो गया और अपने काम को मैं एक बार और दोहरा दूँ समय खत्म होने वाला है।

यह कथा मैं इसलिए सुना रही हूँ कि हमारे पारिवारिक परिवेश में बँधे हुए भाई-बहन जो हैं, वे हमेशा सत्संग के प्रोग्राम को भविष्य पर टालते रहते हैं। बच्चों की पढ़ाई खत्म हो जाए तब करेंगे और इतना यह काम पूरा हो जाए तो यह करेंगे, अब इतनी यह समस्या पूरी हो जाए तो यह करेंगे तो अनुभवी संत की अनुभव भरी वाणी है ये कि माँग-पूर्ति का

प्रोग्राम जो है, उसको एक क्षण के लिए भी भविष्य पर मत टालो। क्यों? क्योंकि जो बात इसी वर्तमान में स्वयं अपने द्वारा सैल्फ कन्सैप्ट को बदल डालने से पूरी हो सकती है उस बात के लिए किसी विशेष परिस्थिति पर क्यों निर्भर करते हो। मुझे अब रूचि-पूर्ति का सुख नहीं चाहिए इस सत्य को स्वीकार करने में 2, 4, 5, 10 मिनट की देर लगाने की जरूरत है क्या? कि कपड़ा बदल लें कि स्नान कर लें तब ऐसा सोचेंगे यह जरुरी है क्या? जी! कि घर में से निकल कर मन्दिर के दरवाजे जाकर बैठेंगे तब सोचेंगे। जरूरी है? क्या जाने यहाँ से उठकर के मन्दिर तक जाने के पहले ही हार्ट फेल हो गया तो काम बाकी रह जाएगा ना! रह जाएगा। तो बड़ी भारी घाटा होगा। सत्य की स्वीकृति में अपने सैल्फ के प्रति अहम् के प्रति, अपने मैं के प्रति सही दृष्टिकोण को अपनाने में और गलत दृष्टिकोण का त्याग करने में किसी प्रकार की बाहरी तैयारी की जरुरत नहीं है। यह बात समझ में आती है?

तो अब सत्संग के प्रोग्राम के लिए भविष्य की प्रतीक्षा कभी मत करना। हाँ, जहाँ जहाँ आप कमरों में ठहरे हुए हैं ठण्डे जल से स्नान करने के फलस्वरूप घुटने में दर्द हो गया, बुखार आ गया, वहाँ से चला नहीं गया। तो यहाँ तक आप नहीं आ सकेंगे ऐसी सम्भावना है। वहाँ से उठ करके यहाँ तक आना कठिन हो सकता है, लेकिन जहाँ है वहीं पर और घुटने में दर्द को लिए हुए भी अपने प्रति दृष्टिकोण को बदलने में कोई बाधा नहीं है। यह सोचना कि हाय किसी प्रकार से ये दर्द छूट ही जाये और चलने के लायक हो ही जाए ऐसा सोचना, यह सत् का चिंतन होगा कि असत् का चिंतन होगा? कैसा होगा बोलो? असत् का चिंतन होगा। जिसकी उत्पत्ति हुई है उसका नाश तो कालान्तर में होगा ही। दर्द उत्पन्न हुआ है तो दर्द भी मिटेगा और शरीर उत्पन्न हुआ है तो शरीर भी मिटेगा तो कहाँ तक उसका चिन्तन करोगे।

कहाँ तक उसकी फिक्र में रहोगे? अगर इसको सँभालने की चिन्ता छोड़ करके जो स्वयं में ही विद्यमान है, उस पर दृष्टि चली गयी तो मेरा

ऐसा विश्वास भी है और यह सत्य भी है कि अगर उस पर दृष्टि चली गयी तो तत्काल ही भीतर के आनन्द की तरंग में अहम् ऐसा अभिभूत हो जाता है कि कुछ काल के लिए शरीर का और दर्द का पता ही नहीं चलता है। ऐसा होता है और साधन काल में होता है। सिद्धि काल की चर्चा मैं नहीं करती हूँ। जीवन पूर्ण हो गया होता तो बोलने का काम भी खत्म हो गया होता। यह साधन काल की चर्चा में कर रही हूँ। थोड़ी-थोड़ी देर के लिए बैठ करके व्यक्तिगत सत्संग के क्रम में, विश्राम-सम्पादन के क्रम में, समर्पण योग में आप थोड़ी-थोड़ी देर के लिए ठहरना पसंद करें, तो उसी समय आपके अनुभव में यह बात आ जाएगी कि सत्य की अभिव्यक्ति में इतनी अलौकिकता है कि उस अलौकिकता के आराम में और उसके आनन्द में शरीर का भास खत्म हो जाता है। तो जो रहने वाली चीज है उसी को सँभालना चाहिए हम लोगों को और इस बिगड़ने वाले का कुशल कब तक मनाओगे भाई ! हाय ! हाय ! इसलिए जो सेवा उसके प्रारब्ध से उसके लिए वर्तमान में उपलब्ध हो उसकी समर्पण करके इसको प्रणाम करके, इससे छुट्टी माँग के, अपने जीवन में रहने का पुरुषार्थ आरम्भ करो।

भाई ! जो अपना है उसमें रहने का पुरुषार्थ आरम्भ करो। जो सदा-सदा के लिए है, उसकी याद में मस्त हो जाओ। जो परम प्रेम का भण्डार है उसके रस में जन्म-जन्मान्तर के सब विकारों को धोकर के परम विश्राम में बड़ा आनन्द लगता है। पता नहीं वह जीवन कहाँ तक जाता है, कितनी दूर तक जाता है, सो तो पता नहीं है लेकिन थोड़ी सी झलक मिल जाती है जब, तो सारा संसार फीका लग जाता है। इतना काम तो इसी साधन काल में हो जाएगा। जरूर कर डालो।

●

प्रवचन 2

उपस्थित महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो।

मानव जीवन बड़ा ही मूल्यवान है। इस दृष्टि से इसी जीवन में हम सब लोग शरीरधारी होते हुए भी अशरीरी जीवन के आनन्द को पा सकते हैं। इसलिए इस जीवन का बहुत मूल्य है। बढ़िया से बढ़िया भोजन मिल सकता है। बढ़िया से बढ़िया आवास मिल सकता है। बहुत प्रकार का सुख मिल सकता है, ऐसा अगर सोचिए तो शरीर की सहायता से संसार का सुख पशु-पक्षियों को भी मिलता है। शरीर के आधार पर खाने-पीने, जीने का सुख पशु-पक्षी भी ले सकते हैं। मनुष्य की विशेषता यह है कि वह शरीरधारी होते हुए भी अशरीरी जीवन के आनन्द का अनुभव कर सकता है।

प्राण-शक्ति के रहते-रहते शरीरों से अतीत अविनाशी जीवन का अविनाशी योग पा सकता है। तत्त्व का बोध पा सकता है। परम प्रेमास्पद के प्रेम रस का मधुर आस्वादन कर सकता है। इसलिए इस जीवन की विशेषता पर हम भाई-बहनों की दृष्टि रहनी चाहिए। और मेरा ऐसा विश्वास है कि मनुष्य, मनुष्य होकर जब अशरीरी जीवन पर अपनी दृष्टि रखने लग जाता है, अविनाशी आनन्द, अविनाशी प्रेम, अविनाशी जीवन पर दृष्टि रखने लग जाता है तो उसे सांसारिक कर्त्तव्यों ने निर्वाह में भी कठिनाई नहीं होती और सांसारिक आसक्ति को छोड़ने में भी कठिनाई नहीं होती।

अपने वास्तविक जीवन पर दृष्टि नहीं जाती है तब हम बुरी तरह से शरीर और संसार के सम्बन्ध में ही सीमित होकर के रह जाते हैं। अब करना क्या करना चाहिए। कैसे उस दिशा में हम आगे बढ़ें? अशरीरी जीवन के आनन्द के अनुभव में बाधा केवल इतनी सी बात की है कि

दिखाई देने वाले जगत् का प्रभाव अपने पर बना हुआ है। उसका परिणाम क्या हुआ? कि अपनी जो जीवनी शक्ति है वह बाह्य जगत् में विभिन्न केन्द्रों से बँध गई है, मेरी ही भूल से। उनमें रचनात्मक सम्बन्ध नहीं है, मनुष्य का अपना आपा और संसार के बदलने वाले दृश्य इन दोनों में कोई स्ट्रेक्चरल रिलेशन नहीं है, बनावट से दोनों जुटे हुए हों ऐसा नहीं है, केवल फंक्शनल रिलेशन है। केवल क्रियात्मक सम्बन्ध है। इस प्रकार का कि जब आपके अपने आपे में दृश्य जगत् से दृश्यों का सुख लेने का संकल्प उठा तो दृश्य दिखाई देने लग गए। भूतकाल के भोगे हुए सुखों के प्रभाव से दृश्य जगत् का कोई दृश्य अपने को पसंद आ गया तो अपनी जीवनी शक्ति पा करके इससे जुट गयी। अतृप्त वासनाओं ने जोर मारा तो ध्यान बाहर की ओर इधर-उधर भटकने लग गया अतृप्त वासना की तृप्ति के उपादानों को ढूँढने लग गया। ये अपनी बनावट बात है।

ऐसा होता है पसंदगी भी हम रखें, शरीर और संसार की सहायता से मिलने वाले सुखों को भी पसंद करें और देहातीत जीवन को भी पसंद करे तो इस दुविधा में साधक का बहुत सा समय निकल जाता है। बहुत सी शक्ति खर्च हो जाती है। विधि-विधान के आधार पर की हुई साधना का एक झूठा सा संतोष भी बहुत दिनों तक बना रहता है। भाई ठीक तो है, सब लोग संसार में रहते हैं। यह सब काम करते ही हैं और भाई इनके साथ-साथ हम थोड़ी-थोड़ी साधना भी तो कर रहे हैं। हम थोड़ा-थोड़ा समय भगवान को याद करने में भी लगा रहे हैं। बात तो ठीक है थोड़ा-थोड़ा समय लगाना आपने आरम्भ किया, थोड़ी-थोड़ी साधना आपने आरम्भ की तो उसके प्रभाव से थोड़ी-थोड़ी देर के लिए भीतर-भीतर शान्ति भी मालूम होती है। ऐसा नहीं है कि आंशिक रूप में आप साधन करते हैं तो उसका फल नहीं बनता है। ऐसा नहीं होता है।

आंशिक रूप में जीवन में बुराई रखते हैं हम, तो उसका फल बनता है। तो आंशिक रूप में जीवन में साधन रखेंगे, तो उसका भी फल बनेगा

लेकिन जब तक बुराइयों का अन्त हम नहीं कर देते, सब प्रकार से उत्पन्न हुए विकारों का नाश हम नहीं कर देते तब तक वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति से अपने में पूर्णता का अनुभव नहीं होता। इतना फर्क पड़ जाता है। इसलिए अनुभवी जन सत्संगी भाई-बहनों को सलाह देते हैं कि देखो तुम्हारे भीतर वह सामर्थ्य है। कौन-सी सामर्थ्य ? कि 'नहीं' को 'नहीं' कहकर इन्कार कर सकते हो। 'है' को 'है' कहकर स्वीकार कर सकते हो। इतनी सामर्थ्य देकर भगवान ने भेजा है।

इसमें शरीर का बल नहीं चाहिए, इसमें धन, सम्पत्ति का बल नहीं चाहिए। इसमें बहुत पढ़े लिखे होने की आवश्यकता नहीं है। जीवनदाता, जन्मदाता ने हम लोगों को शरीरों की पराधीनता से मुक्त होने के लिए जो सामर्थ्य चाहिए वह हर भाई को हर बहन को देकर के बनाया है। धन सम्पत्ति तो दुनिया में आने के बाद अर्जित करता है व्यक्ति। और शरीर के बल का कोई ठिकाना ही नहीं है। कभी बल है, कभी घट जाता है। कभी दुर्बल हो जाता है, कभी सबल हो जाता है। बदलता ही रहता है।

सत्य की अभिव्यक्ति जो है और अशरीरी, अविनाशी, आनन्द स्वरूप अपना अस्तित्व जो है, वह शरीर के बल पर, धन के के बल पर, योग्यता के बल पर, पद के बल पर आधारित नहीं है। उसके लिए जिसने हम लोगों को बनाया उसने विवेक का प्रकाश सब भाई-बहनों को दे दिया। विश्वास करने का तत्त्व सब भाई बहनों को दे दिया। श्रद्धा-निष्ठा रखने का तत्त्व मनुष्य के व्यक्तित्व में आरम्भ से ही विद्यमान रहता है। किसी जाति का हो, किसी वर्ग का हो, किसी देश का हो, किसी युग का हो, अगर वह मनुष्य है तो उसमें विचार-शक्ति भी है और भाव-शक्ति भी है। प्रेमभाव से शून्य किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व आपने कभी नहीं देखा होगा। विचार-शक्ति से शून्य किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व आपने कभी नहीं देखा होगा। ये मौलिक तत्त्व जो मिले हुए हैं हम लोगों को उन्हीं की सहायता

लेकर अपने जीवन को सफल बनाना है। बाहर की जितनी बातें हैं, वे सब किसी न किसी रूप में हमारी सहायता करती हैं। कब? जब विवेक के प्रकाश का आदर आप करेंगे। तो एक बड़ी अच्छी बात हो जाएगी। क्या अच्छी बात हो जाएगी कि परिस्थिति अनुकूल बन जाए तो अनुकूलता से भी आप अविनाशी जीवन की ओर आगे बढ़ने में मदद ले लेंगे। परिस्थिति अगर प्रतिकूल हो गयी तो प्रतिकूलता से भी आप अविनाशी जीवन की ओर आगे बढ़ने में मदद ले लेंगे।

ऐसा होता है, बाहर की परिस्थितियाँ जो है, मनुष्य के शारीरिक और मानसिक योग्यताएँ आदि हैं, ये सब विवेकीजन के लिए सहयोगी बन जाती हैं और विवेक का अनादर करने वाले के लिए सब बाधा बन जाती है। सोच करके देखो। किसी-किसी साधक के जी में कभी-कभी ऐसी बात आती है कि किसी साधक को आगे बढ़ते हुए देखते हैं अच्छा लगता है हमें। तो कहते हैं कि उनके संस्कार बड़े अच्छे होगें इसलिए उनकी जल्दी उन्नति हो गयी। मानव सेवा संघ की पद्धति में मनुष्य के सामने ऐसी बात नहीं रखी गयी कि जिसको लेकर के वह निराश होकर के बैठ जाए।

मैंने सोचा तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मान लीजिए कि आपके संस्कार पहले के बहुत अच्छे नहीं है। किस आधार पर आप ऐसा मानते हैं, सो आप जानिए लेकिन आपके इस फैसले को लेकर मैं विचार करूँ कि बहुत अच्छे नहीं हैं तो कोई चिंता की बात नहीं। अब तक के जो बन चुके हैं वे अच्छे नहीं है। लेकिन वर्तमान में हम लोग फ्री हैं इस बात में कि हम अब से आगे से चेष्टा करने अच्छे संस्कारों को बनाएँ। बना सकते हैं कि नहीं? बना सकते हैं। तो बुराई करना छोड़ देंगे तो उनका परिणाम अहम् में अंकित होना बन्द हो जाएगा। तो मन से, वचन से, कर्म से, बुराई का त्याग करना यह वर्तमान का पुरुषार्थ है।

बुराई को बुराई करके जानने की सामर्थ्य सब भाई-बहनों में है। अब जानी हुई बुराई को छोड़ने का प्रश्न है? की हुई बुराई को पुनः न दोहराने का प्रश्न है। केवल इतनी सी बात है। कोई-कोई ऐसा कहने लगते हैं कि क्या करें ये सब दोष इतने पुराने हो गए कि ऐसी आदत बन गयी कि बदलती नहीं है। पुराने हो गए इसलिए बदलती नहीं हैं बातें। उनके लिए मानव-जीवन का एक बड़ा ही सुन्दर मंगलमय विधान है और वह यह हैं कि मान लीजिए किसी प्रकार की भूल को दोहराते-दोहराते आपने अपने भीतर ऐसी निर्बलता पैदा कर ली कि उस भूल को चाहते हुए भी मिटाने में आप असमर्थ पा रहे हैं अपने को, तो उसके लिए एक बड़ी सुन्दर बात है इस जीवन में और वह क्या है? कि तुम्हारे भीतर अगर असमर्थता लगती है, तो तुम उस बुराई को न मिटा सकने के कारण से दुःखी हो जाओ। हाय क्या बताएँ, मिटाना तो चाहते हैं लेकिन मिट नहीं रहा है। इस बुराई को छोड़ना बहुत जरूरी है लेकिन मैं क्या बताऊँ मुझसे छोड़ी नहीं जा रही है। जिस बुराई को न छोड़ सकने के कारण से आप पीड़ित हो जाएँगे यह बुराई स्वयं ही मिट जाएगी। यह विधान है, अनुभवी जनों का अनुभव-सिद्ध सत्य है, जिसके मिटा सकने में आप अपने को असमर्थ पाते हैं, उसके न मिटा सकने की पीड़ा हो जाए क्या बताएँ यह भूल मैं किसी भी तरह से छोड़ ही नहीं सकता हूँ। तो आपकी पीड़ा, किस तरह की पीड़ा अच्छाई की ओर आगे बढ़ने की वेदना। क्या करें बुराई छोड़ी नहीं जाती, जीवन निर्दोष कैसे बनाऊँ, कैसे बनाऊँ। इस बात के लिए हृदय में अगर गहरी व्यथा हो जाए तो आपको पता ही नहीं चलेगा कि किस समय उस बुराई की जड़ कट गयी और वह आप में से निकल गयी।

निकल जायेगी। अब ठीक इसके विपरीत जो जीवन का सत्य है, परम शांति की अभिव्यक्ति, अमरत्व की अभिव्यक्ति, परम प्रेम की

अभिव्यक्ति। शांति, अमरत्व और प्रेम की सरसता ये अविनाशी तत्त्व हैं, जो अहम् रूपी अणु में मौलिक रूप से विद्यमान हैं। जिनसे विमुख होकर हमने अपने को भोग, मोह और आसक्ति में फँसा लिया था। मनुष्य होने के नाते सत्संग के प्रकाश में अब अपने को पता चला कि मेरा असली रूप तो परम शांति है, अमरत्व है, परम प्रेम है। ऐसा आपने निश्चय किया, सत्संग में सुना, संतों के पास बैठ करके सुना-समझा, सद्ग्रन्थों में पढ़ करके देखा और अपने भीतर इन तत्त्वों की आवश्यकता का अनुभव किया। ग्रन्थों में पढ़ने से भी इन बातों का पता चलता है। संत महापुरुषों के पास बैठने से भी इन बातों का पता चलता है।

लेकिन जब तक अपने भीतर की आवश्यकता न देखो तब तक संतवाणी और सद्ग्रन्थ के वाक्यों का अपने पर सजीव प्रभाव नहीं होता है। भीतर में आवश्यकता होती है। किस बात की? कि जब अशांति से आप बेचैन होते हैं तो अनुभव करते हैं कि कितना अच्छा होता कि मुझे शांति मिल जाती। जब जीना चाहो जी न सको, मरना चाहो मर न सको। इस प्रकार की पराधीनता जब सताती है तो व्यक्ति जन्म मरण के बन्धन से मुक्त जीवन की आवश्यकता अनुभव करता है।

जब प्रेम-तत्त्व को आसक्ति के रूप में दूषित कर देने से भीतर-भीतर नीरसता सताने लगती है तो मनुष्य परम पवित्र प्रेम रस की आवश्यकता अनुभव करता है। भीतर-भीतर हम लोग इन अलौकिक अविनाशी तत्त्वों की आवश्यकता अनुभव करते हैं और बाहर से संतजन इसकी चर्चा करते रहते हैं। सद्ग्रन्थों में इसकी चर्चा लिखी हुई है। पूछने से, जिज्ञासा रखने से उत्तर में सब उपाय अपने को मिलते रहते हैं। ऐसा आपने भी किया है। सत्संग के प्रकाश में जीवन को देखा है, संत की संगति में बैठकर उपायों को सुना है। तो जिन्होंने सत्संग के प्रकाश में अपनी आवश्यकता को अनुभव किया वे अवश्य ही इस दिशा में प्रयत्नशील होते हैं। क्या

करने से शांति मिलेगी, क्या करने से भक्ति मिलेगी, क्या करने से मुक्ति मिलेगी, ऐसी जिज्ञासा आपके भीतर होती है और उपाय करना आप पसंद करते हैं और जिस भाई से, जिस बहन से वर्तमान में जो करते बनता है, आप लोग करते भी हैं। अब उसके आगे चलिए। उपाय भी किया फिर भी भीतर से जीवन भरा-भरा सा नहीं लगता है। ऐसा नहीं हुआ कि मुझको स्वयं अपने लिए शरीर और संसार नहीं चाहिए। ऐसा हो गया है क्या? जी ! सबके लिए नहीं हुआ है। और जिनका हो गया है, वे तो हम सभी भाई-बहनों के प्रणम्य हैं, आदरणीय हैं, स्तुति करने योग्य हैं।

लेकिन जिन भाई बहनों के भीतर यह अनुभव नहीं आया उनके लिए उपाय सोचना पड़ेगा और इस दिशा में पुरुषार्थ करना पड़ेगा। पहली बात क्या है कि जिस जीवन को हम अपनी आवश्यकता के रूप में अपने भीतर ही पा रहे हैं, शान्ति चाहिए, अमरत्व चाहिए, परम प्रेम चाहिए। अपने को इनकी आवश्यकता है। जिन्होंने अविनाशी तत्त्वों की आवश्यकता अनुभव की, उन साधकों के भीतर इस आवश्यकता की जागृति के आधार पर अपने आप में ही इतना उत्साह और बल बढ़ने लगता है कि बाहर की सब बातों में जो उनका बड़ा घना लगाव था वह अपने आप से ढीला हो जाता है।

आवश्यकता को अनुभव करना, उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील होना और उस आवश्यकता की जागृति में सतत जागरूक रहना आवश्यकता जागृत बनी रहे और उसकी इन्टेंसिटी बढ़ती रहे, तीव्रता उसकी बढ़ती रहे, इसके लिए क्या करिएगा? तो प्रातः काल ब्रह्म मूहुर्त में बहुत सबेरे उठ करके व्यक्तिगत सत्संग कीजिए। आवश्यकता सामने रहेगी और तीव्रतर होती जायेगी, फिर मूक सत्संग कीजिए। विश्राम के सम्पादन में आवश्यकता की तीव्रता भी बढ़ती है और आवश्यकता की पूर्ति भी

होती है। तो मूक सत्संग के द्वारा विश्राम सम्पादित कीजिये। जाग्रत अवस्था में समाज में प्रवृत्त होने की घड़ी जब आए तो अपने पास जो भी कुछ सामर्थ्य मालूम होती है, सबको लगाकर के परिवार और समाज की सेवा करने को सोचिए। और सेवा का अवसर निकल जाए तो अकेले शांत रहिए। यह रुटीन है। इस प्रकार का जीवन का क्रम बनाएँगे तो आवश्यकता तीव्र होती जाएगी और कैसा अनुभव किया मैंने और ऐसा भी लगा मुझे कि विचार-पथ के साधक हों, अथवा विश्वासपथ के साधक हों, उनको अब नयी-नयी इच्छाओं की पूर्ति के सुख से अपने को बचाना चाहिए। इच्छाएँ पुरानी कभी-कभी बीच-बीच में चेतन स्तर पर आ भी सकती है। अपने को साधक स्वीकार कर लिया। अविनाशी जीवन से अभिन्न होना है, इस बात को स्वीकार कर लिया। अविनाशी परमात्मा की शरण में मैं हूँ, उनकी शरणागति को स्वीकार कर लिया, तो किसी भी प्रकार से जीवन के सत्य की स्वीकृति के बाद भी भूतकाल के भोगे हुए सुखों के आधार पर कभी-कभी इच्छाएँ उदित होती हैं। लेकिन अपनी वास्तविक आवश्यकता पर दृष्टि आप रखेंगे तो वे इच्छाएँ जो चेतन स्तर पर आएँगी (कोंशस लेविल पर) वे आपको आपके लक्ष्य से विचलित नहीं करेंगी। आएँगी और निकल जाएँगी, खत्म हो जाएँगी। यदि साधक की श्रेणी में आ जाने के बाद समाज की उदारता से, परिवार की उदारता से, अपने को अधिक अनुकूलता मिलने लगी और चार कदम आगे बढ़ने के बाद, प्रकृति के विधान से परमात्मा की कृपालुता से हमारे बहुत पुराने दबे हुए संकल्पों की पूर्ति का संयोग बनने लगा तो उस क्षण में भी साधक को बहुत सावधान रहना चाहिए। प्रतिकूलता में तो सावधानी बनी रहती है, ज्यादा बेहोश नहीं होता है आदमी। बाहर से कठिनाइयाँ जब खड़ी होती हैं तो आदमी अचेत नहीं होता है, सावधान रहता है। लेकिन साधक की श्रेणी में आ जाने पर समाज, परिवार, प्रकृति, परमात्मा सब अनुकूल

होने लगते हैं तो उस समय आयी हुई अनुकूलता का सुख भोगने में अपने को फँसना नहीं चाहिए। नहीं तो क्या होता है कि थोड़ी सी साधना के बल पर जो विकास हुआ था, वह रुक जाएगा और आयी हुई अनुकूलता को हम स्वीकार करने लग जाएँगे तो पुनः-पुनः अनुकूलता के सुख भोगने का फल हमारे ऊपर जड़ता के रूप में छा जाएगा। फिर लक्ष्य पर से दृष्टि हट जाएगी। अनुकूलता के सुख-भोग से हमको पुनः पुनः पराधीनता में फँस जाना पड़ेगा। शरीर और संसार का प्रभाव पुनः अपने को प्रभावित करने लग जाएगा।

इसलिए साधन-काल ने जिन साधकों ने वास्तविक जीवन की यात्रा को आरम्भ किया, उनको आयी हुई अनुकूलता से बहुत सावधान रहना चाहिए। आदर भी मिलने लगता है, सहयोग भी मिलने लगता है, दूसरे सब लोग ध्यान भी रखने लग जाते हैं—अच्छा भाई इनके भजन का समय है शोर नहीं मचाना चाहिए चुप रहो, चुप रहो। अरे भाई ये साधक लोग हैं इनको कोई खराब चीज खाने को नहीं देनी चाहिए। इनको आराम से रहने देना चाहिए। तो प्रकृति मदद करने लग जाती है, परिवार, समाज सब सहायता देने लग जाता है। परमात्मा कृपा करने लग जाते हैं तो बड़ी भारी भूल होती है। मुझसे भूल हुई है। और मैंने उस भूलकाल में अपनी इस गरीबी को अनुभव किया था।

बिल्कुल सच्ची बात मैं बता रही हूँ, मैंने ऐसा अनुभव किया अपने भीतर में अपनी गरीबी को, कि सीमित व्यक्तित्व के अभिमान को पालने वाला व्यक्ति अभिमान की जड़ता से ठोकरें खाने लग जाता है तो उसे परमात्मा की याद आती है, अविनाशी जीवन की याद आती है, संत की संगति में अच्छा लगने लगता है, सत्संग के प्रकाश को लेकर वह ऊँचे उठने लगता है। तो भीतर से भी थोड़ा आराम मिल गया। सुख-भोग की प्रवृत्तियों की ओर से अपने को हटाया, नित्य-योग पर ध्यान दिया, परम

प्रेम की आवश्यकता को अनुभव किया। परम प्रेम के परम आधार प्रेमास्पद परमात्मा की शरणागति को स्वीकार किया।

सत्य की स्वीकृति मात्र से भीतर-भीतर थोड़ा-थोड़ा आराम मिलने लगता है, साधक को। चंचलता और विकृतियाँ शांत होने लगती है। बाहर से दृष्टि हट जाती है तो अपने में अपने भीतर ही आराम मिलने लगता है। अभी आरम्भ हुआ साधनकाल है। अभी-अभी साधना आरम्भ की है। सत्य की स्वीकृति मात्र से भीतर बाहर थोड़ी अनुकूलता हो गयी, अन्तर की बेचैनी और अशांति खत्म हो गयी।

मन और चित्त की चंचलता और विकृतियों का भार उस परम प्रेमास्पद सामर्थ्यवान को सौंप दिया। अपने से सँभाल में नहीं आया। अपने से अगर सँभालने में आ जाता तो मैं तो परमात्मा को पूछने वाली ही नहीं थी अपने से सँभालने में नहीं आने पर हार मान करके, संत की सलाह सुन करके सौंप दिया कि भई अब हमारे से तो होता नहीं है, आपके भक्त हैं, आपके मित्र हैं, आपके परम प्रेमी हैं, उन्होंने मुझको सलाह दी है कि सामर्थ्यवान के हाथ में सौंप दो। तो उनके कहने से मैं आपको सौंप रही हूँ, आप सँभाल लीजिए।

ऐसा कहकर भार अपने पर से उतार कर नीचे रख दिया, ठीक है, स्वामी जी महाराज कह रहे हैं तो जरूर परमात्मा सँभालते होंगे तो अपने से बनता नहीं है, तो मैंने कह दिया। और ऐसे कह दिया कि हे महाराज आप बड़े कृपालु हैं, ऐसा मैंने सुना है, और आपने सचमुच बढ़िया-बढ़िया मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ, बाहरी-भीतरी सब अंग (organ) सब अवयव आपने बढ़िया-बढ़िया बनाकर दिए थे, परन्तु हे परमात्मा, मुझ से भूल हो गयी।

मैंने अपनी भूलों के कारण से ही इनको गंदा कर दिया, विकृत कर दिया। अब ये मेरे सँभालने में नहीं आ रहे हैं। इन विकृतियों का

भार मुझसे ढोया नहीं जा रहा है, हे कृपालु अब आप सँभालें। तो ऐसा कह देने के बाद बड़ा हल्कापन आता है जीवन में। एक बड़ा जोरदार सहारा मिल जाता है कि ठीक है, गंदा किया मैंने और साफ करने की सारी जिम्मेदारी मुझ पर नहीं है। केवल इस एक आश्वासन से कितना बल मिलता है। सोचो? जी! भूल किया मैंने, लेकिन उसका जो परिणाम बन गया, जिससे ज्वाला उपज रही है, न जाग्रत में चैन है, न निद्रा में चैन है। तो उस दुर्दशा को दूर करने में सारी जिम्मेदारी मुझ पर नहीं है। कोई एक है, जिसने हमें बनाया। वह असमर्थों का सहारा है। वह हमारी दुर्बलता में हमारी मदद करने वाला है। केवल इस आस्था से ही, केवल इस विश्वास से ही भीतर-बाहर बिल्कुल शांति छा जाती है। थोड़ा अच्छा लगने लगता है, बहुत आराम मिलने लग जाता है।

ऐसा मैंने देखा। उसके बाद क्या हुआ? बिल्कुल सच्ची बात कि कितने पुराने-पुराने संकल्प जिनको कि न मैं अपने भाग्य-विधान से पूरा होते देखती थी और न मेरे पुरुषार्थ के भीतर ये आते थे, अचानक से उनका उदित होना और अप्रयास उनका निष्कासन और उनकी निवृत्ति होना, यह सब होने लगा और अंतः निरीक्षण की आदत जो थी तो उससे अपने भीतर झाँकना और इन सब क्रियाओं को देखना और सब प्रोग्रेस देख करके प्रसन्न होना। यह सब चलने लगा, फिर क्या हुआ? कि जैसे-जैसे अन्दर की सफाई होती है, शांति मिल रही है, फिर अपना पुराना दबा हुआ, अहम् का अभिमान जाग्रत हो गया। जिसके आगे समर्पित किया था अपने को और जिसकी कृपालुता से शांति आयी थी फिर उसकी ओर से दृष्टि हट गयी। मैं बड़ा बहादुर हूँ, मैं बहुत विचारवान हूँ, मैंने बड़ी बहादुरी की, मैं बड़ा अच्छा साधक हूँ। क्या अच्छे हैं आप? वाह! स्वामी जी महाराज मैंने जो कहा, सो मैंने करके दिखा दिया।

साधन के फल में भी चाहे भीतर की, चाहे बाहर की दोनों तरफ की अनुकूलता की बाढ़ जैसे आ गयी हो मेरे सामने। ऐसा लगने लगा कि जैसे इतने दिनों से अपनी प्रतिकूलता का वेश बना करके, मुझको डरा करके, मुझको थका करके, परमात्मा इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब ये हमारे को याद करेगी कब ये हमारी शरण में आएँगी और हम इस पर भीतरी, बाहरी अनुकूलता बरसाएँगे। ऐसे जैसे कि तैयारी करके बैठ करके प्रतीक्षा कर रहे हों। तो भीतर, बाहर सब प्रकार की अनुकूलता बरसने लगी और उस अनुकूलता में फिर उनको भूल गयी।

यह बाहर से भी आता है और अन्दर से भी आता है, ऐसा तो मैंने देखा है। जब भीतर से अहम् का अभिमान फिर जाग्रत होता है तो फिर जड़ता आ जाती है। अहम् का अभिमान जगता है फिर जीवन का रस घट जाता है, ऐसा होता है। तो सारा दिन तो विश्वविद्यालय का काम, पढ़ा रहे हैं और प्रयोगशाला सँभाल रहे हैं, अब लड़कियों का यह चल रहा है, वह चल रहा है, यह सब चल रहा है, सुबह शाम छात्रावास में उनकी देखरेख का काम है, यह सब चल रहा है, जब सब खत्म हो गया तो दूसरे दिन सबेरे क्या-क्या लेकर जाना है वो टोकरी सज गयी, टाइम टेबिल पर निशान लगाकर रख दिया गया।

उसके बाद बिस्तर में बैठ करके, मच्छरदानी लगा करके, बत्ती बन्द करके अब अपने को देखने का समय आया। तो देख रही हूँ, कैसा लग रहा है। जड़ता बढ़ रही है, रस घट रहा है, क्या हो रहा है? क्या हो रहा है? पता ही नहीं कि क्या हो रहा है? मैंने प्रभु की कृपालुता को अपनी बहादुरी मानने की भूल कर लिया, अहम् के अभिमान से पुनः जड़ता छा गयी।तो अब पता ही नहीं है कि प्रभु की विस्मृति हो जाने के कारण से यह दशा हो रही है, अपने को पता न चले और रात को बहुत बैठ-बैठकर मैं सोच रही हूँ बिस्तर में लेटे-लेटे उलट पुलट करवट बदल रही हूँ।

बड़ा बढ़िया क्रम शुरु हुआ था, कहाँ से बाधा आ गई? क्यों नहीं उत्साह मालूम होता है? क्यों नहीं रस मालूम होता है? क्यों नहीं आज अच्छा-अच्छा लग रहा है। पता नहीं तो भीतर-भीतर मैं परेशान हो रही हूँ मैं राँची में छात्रावास के कमरे में। दूर-दूर से कहाँ-कहाँ से स्वामी जी महाराज के पास से संदेशा आ रहा है चिट्ठियाँ आ रही है, 'पाथेय' वाली पुस्तिका में आप पाएँगे इस प्रकार के पत्र भी और ऐसा हमारा उदाहरण भी है तो चिट्ठी मैं पढ़ रही हूँ उसमें लिखा है—मैंने खबर नहीं भेजी केवल बिस्तर में उलट पुलट कर रही हूँ कि भई क्या हो गया—तो वहाँ से पत्र लिख कर आ रहा है महाराज के पास से—लाली साधन के फल का भोग मत करो।

चेतना आ जाती, होश सँभल जाता। खोज लिया मैंने कि महाराज जी ने ऐसा वाक्य कैसे लिखा है। तो ध्यान में आ गया। जिनकी कृपा का आश्रय लेकर भीतर-बाहर से कुछ आराम मिला उस आराम को मैंने अपने अहं की खुराक बना लिया, प्रभु को भूल गयी। तो कृपा के बरसने का सरस अनुभव जो हो रहा था अहम् के अभिमान की जड़ता का पत्थर बैठ गया। सावधानी आ जाती है। संतजन और भगवान किसी साधक को बीच रास्ते में अटका हुआ छोड़ते नहीं है। सावधानी आती है। इसी आधार पर आप भाई-बहनों से निवेदन कर रही हूँ मैं कि सत्य की अभिव्यक्ति बड़ी दूर की बात नहीं है।

आप साहस करिए। जितनी सामर्थ्य आपके पास है, खर्च करिए और आप कर सकते हैं कि नहीं कर सकते हैं, अपनी असमर्थता की ओर तो देखिए ही मत। किसकी ओर देखो कि मुझे तो परम शांति, परम स्वाधीनता, परम प्रेम चाहिए ही चाहिए। मुझको तो उनकी आवश्यकता है। और एक सामर्थ्यवान है परम शांति उसका स्वरूप है, परमानन्द स्वरूप वह है प्रेमानन्दस्वरूप वह है, वह मेरा अपना है, वह हमारे सबके भीतर सब समय विद्यमान है और वह हर कदम पर हमारी सहायता करने में परम तत्पर है।

विश्वास की दृष्टि से यह विश्वास रखिए और विचार की दृष्टि से वह नित्य विद्यमान है। जो नित्य नहीं है, जो स्व नहीं है जो पर है, जो परिश्रम और पराश्रय से मिलता है, वह नहीं चाहिए, नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। जो अपने में इसी समय विद्यमान है, उसकी अभिव्यक्ति अपने को अभीष्ट है, इन बातों को ध्यान में रखिए। क्या होगा? एक बड़ा शुभ परिणाम होता है। और वह यह होता है कि साधक के भीतर या तो सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। और मेरी तरह कोई सामर्थ्य का अभिमानी होगा तो उसकी मदद भगवान दूसरी तरह से करते हैं। बहुत मजा आया मुझे। कैसा करते हैं? जितना जितना जोर लगाओ, उतनी-उतनी हार मालूम होगी और जब अपनी हार की व्यथा से व्यथित हो जाओ तो अपनी कृपा का रंग बरसा करके भरोसा दिला देंगे कि देखो मैं तुम्हारा सहायक तुम्हारे भीतर ही विद्यमान हूँ।

●

प्रवचन 3

प्रश्न है—मानव का सम्बन्ध विधान के नाते विधायक से है या विधायक के नाते विधान से है?

उत्तर—प्रश्नकर्त्ता का अपना विचार क्या है? वे अगर विधायक को मानते हैं, तो उनका सम्बन्ध विधायक के नाते विधान से रहेगा, लेकिन सभी का ऐसा नहीं हो सकता है। कुछ लोग इस विचार के होते हैं कि वे जगत् के, समाज के, प्रकृति के विधान को मानते हैं और विधायक को नहीं मानते हैं। फिर भी जो विधान को मानता है, उसके अनुसार जीवन-यापन करता है, उसको विधायक मिल जाता है, न मानने पर भी। इसलिए प्रधानता विधायक की है। और साधक कहाँ से आरम्भ करेगा यह उसकी अपनी रुचि की बात है। अगर वह ईश्वर-विश्वासी है तो विधायक को मान लेगा पहले और विधान उसके जीवन में आ जाएगा पीछे। और अगर वह विचारक है तो विधान को मानकर चलेगा पहले और विधायक का साक्षात्कार हो जाएगा पीछे।

प्रश्न—वर्तमान जीवन को सुन्दर बना सकने की निराशा ही क्या जन्म-मरण से छुटकारा पाने को सोचने का कारण नहीं है?

उत्तर—ऐसा नहीं है और जो लोग वर्तमान जीवन को सुन्दर बना सकने की निराशा में सुन्दर शब्द का अलग-अलग अर्थ होगा। जो लोग जीवन के सही मूल्यों को सामने रखकर उसको सुन्दर बनाने चलते हैं उनको किसी प्रकार से निराशा नहीं होती है। प्रश्नकर्त्ता को ऐसा लग रहा है जैसे जो चाहते थे, संसार में नहीं मिला तब चलो उधर की बात सोचें। तो हारा हुआ व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश नहीं पाता है, विचारक प्रवेश पाता है। जो विचार के प्रकाश में नाशवान को नाशवान जानकर उसकी आशाओं को स्वेच्छा से छोड़ देता है, उसका प्रवेश अध्यात्म जीवन में होता है। और जो सुख की वासनाओं की पूर्ति नहीं हुई तो पूर्ति के

उपाय में निराशा मिली। इसलिए वह अध्यात्म की सोचे तो ऐसे हारे हुए का सौदा अध्यात्म जीवन नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता ने लिखा है वर्तमान जीवन को सुन्दर बना सकने की निराशा। मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में जीवन को सुन्दर बना सकने में निराशा किसी को होती ही नहीं है। सुन्दर बनाने में निराशा नहीं होती, विलास की पूर्ति में निराशा हो सकती है। कामना की पूर्ति में निराशा हो सकती है। इच्छाओं की पूर्ति का सुख भोगने में, उसके अभ्यास में निराशा हो सकती है। सुन्दर बनाने में निराशा कभी होती ही नहीं। क्यों? क्योंकि मानव-जीवन सुन्दर बनता है सेवा-त्याग और प्रेम से। और इसमें-सेवा, त्याग और प्रेम में किसी प्रकार निराशा आ ही नहीं सकती। इसलिए निराशा शब्द को सुन्दरता के साथ जोड़ना नहीं चाहिए। यह गलत हो गया। और जब जीवन सुन्दर हो गया तो वह छूटे या न छूटे क्या अन्तर पड़ता है। यहाँ भी वही गलती हो रही है, प्रश्नकर्त्ता भाई से। सुन्दर शब्द का वे गलत अर्थ ले रहे हैं। कपड़ा सुन्दर, खाना सुन्दर, महल सुन्दर, सब प्रकार से सुख, सब प्रकार से सुविधा इसको अगर वे सुन्दर ले रहे हैं। इसलिए ही गलती हो रही है, अन्यथा यह प्रश्न नहीं बनता। यह प्रश्न ही गलत है।

प्रश्न—स्वामी जी कहते हैं यदि हममें से बुराई निकल गयी तो हमें जगत् में बुराई दिखेगी नहीं? मैं यह नहीं कहता हूँ कि जगत् में बुराई नहीं है, परन्तु हमें जगत् में बुराई देखने का अधिकार नहीं है। कृपया उक्त की व्याख्या करके समझावें।

उत्तर—तो प्रश्नकर्त्ता भाई से यह पूछ रही हूँ कि महाराज जी के ये वचन जो हैं, वे आपको मंजूर हैं कि नहीं हैं? व्याख्या तो उसके बाद मैं कर दूँगी, लेकिन पहले आप अपना विचार बताइए कि इस विचार से आप सहमत है? किसका प्रश्न है भई? अच्छा। तो आप इससे सहमत हैं? मैं

व्याख्या करूँगी बहुत बढ़िया लेकिन आपका विचार जानना चाहती हूँ, लिखा है, यदि हम में से बुराई निकल गयी तो हमें जगत् में बुराई दिखेगी नहीं। प्रश्नकर्त्ता इससे सहमत नहीं हैं। ठीक है तो आपको ऐसा लगता है कि अपने में बुराई न होने पर भी जगत् की बुराई दिखती है। ठीक है। अब इसी ढंग से सोचेंगे हम लोग।

उत्तर—बात ऐसी है कि एक परसप्चूयल फील्ड होता है प्रत्यक्षीकरण का एक क्षेत्र होता है, मनुष्य के सूक्ष्म शरीर के माध्यम से वह काम करता है। और अनेक अवसरों पर कम से कम अपने साथ जो कुछ हुआ है वह पक्की तौर से जानती हूँ और साइकलॉजी में जो पढ़ा है, उसका उससे समर्थन भी है कि सचमुच जिस बात की सम्भावना मेरे भीतर नहीं है, किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध में मेरी जो धारणा है कि ये विद्यार्थी है कि ये साधक है, ये सज्जन हैं तो वे इस प्रकार की गलती कर सकते हैं, ऐसी सम्भावना मेरे मस्तिष्क में नहीं रहती है, तो उस प्रकार की गलतियों को अनेक बार अपने साथ होने पर भी कभी ख्याल में नहीं आता है कि यह भला आदमी ऐसा कर सकता है, दिखता ही नहीं है।

अनेक बार ऐसा पाया है मैंने वर्षों तक धोखे खाते-खाते बड़ी कठिनाई से बड़े दुःख के साथ जब एकदम आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है तब बड़े दुःख के साथ मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि अच्छा ऐसा आदमी भी ऐसा कर सकता है। तो चोट खाते जा रहे हैं, घाटा लगता जा रहा है, आघात पर आघात लगता जा रहा है, और प्रेमपूर्वक उसके साथ मैं रहती जा रही हूँ और कभी सोचने में ही नहीं आता है कि ऐसा आदमी ऐसा कर सकता है, ध्यान में ही नहीं आता, दिखती ही नहीं बुराई एक तो यह बात हो गयी।

साइकलॉजी वालों ने यह कहा सचमुच जगत् कैसा है? वैसा हम नहीं देखते हैं, कैसा देखते हैं कि जैसे हम हैं तो अपना जो परसप्चूयल

एपरेटस है, उसमें जो दोष है तो वही दोष जगत् में दिखायी देता है। वह जैसा है, वैसा ही जगत् दिखाई देता है। तो यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त भी हो गया। तीसरी बात जो आपने कहीं, वह भी बहुत हद तक व्यावहारिक जगत् में देखने में आती है कि सचमुच कोई खास दोष जो अपने में नहीं है तो भी दूसरों में हम लोगों को दिखता है।

ऐसा अगर नहीं होता तो समाज के बड़े-बड़े सुधारक जो स्वयं शुद्ध जीवन को लेकर, परहितकारी भाव को लेकर दुनिया में आये और दुष्ट प्रकृति के लोगों की दुष्टता के विपरीत उन्होंने आन्दोलन खड़ा किया और वृहद् समाज के साथ होने वाली बुराई को रोका। ऐसा भी हुआ। तो वह दोष उनमें अपने में नहीं था फिर भी उनको दिख रहा था कि इस एक विकारयुक्त व्यक्ति के कारण से अनेकों को कष्ट हो रहा है, तो जहाँ उन्होंने उसको परसीव (perceive) किया कि ये दुष्टता कर रहा है, तब उनको ऐसा मालूम हुआ। इस तरह से आपका कहना भी इस अंश में सही है और किसी अंश में सही है उसको सर्वांश में नहीं लेना चाहिए। और आखिरी बात क्या है? कि सचमुच अगर सीमित अहम् भाव और यह मैं हूँ और यह जगत् है। ये दार्शनिक सिद्धान्त है ना! मैं हूँ और जगत् है, अपने से भिन्न एक जगत् दिखाई देता है, एक है मूल सत्ता और एक में यह द्वैत का भास हो रहा है एक "मैं" हूँ एक 'जगत्' है। तो दोषों का दर्शन अगर होता है तो इस द्वैत के कारण ही होता हैं। तो ये बात ठीक तरह से हम लोगों को कब मालूम होगी? जबकि द्वैत का नाश हो जाए।

तो वहाँ पहुँच करके यह सिद्धान्त बिल्कुल सैन्ट-परसैन्ट पक्का उतरेगा क्योंकि अपने से भिन्न किसी का अस्तित्व ही नहीं रहेगा तो दोष दिखेगा ही नहीं। दोष जहाँ से दिखता है, वह जड़ कट जायेगी। स्वामी जी महाराज ने हमेशा आखिरी बात को लेकर के सूत्रों का गठन किया है। तो वे कह रहे हैं कि यदि हममें से बुराई निकल गयी तो हमें जगत्

में बुराई दिखेगी नहीं। अब दूसरी बात अब कह रहे हैं जहाँ से हम लोग बात कर रहे हैं जैसा आपने बताया कि भई हमारे में वह बुराई न रहने पर भी वह जगत् में बुराई दिखती है।

उसके लिए उन्होंने कल्याणकारी उपाय बताया कि मैं यह नहीं कहता हूँ कि जगत् में बुराई नहीं है, परन्तु हमें जगत् में बुराई देखने का अधिकार नहीं है। अब इसका अर्थ उन्होंने साधक की दृष्टि से बताया और यह बताया कि जगत् में बुराई है कि नहीं है, इसको तो कोई वीतराग पुरुष ही देख सकेगा, जान सकेगा और कर सकेगा और हम लोग जब तक बिल्कुल वीतराग नहीं हो गये हैं तो आँखों में दूसरों का दोष दिखता तो है लेकिन अगर दूसरों को हम दोषी मानते रहेंगे तो अपना कल्याण नहीं होगा। इसलिए मना किया कि दूसरों में बुराई देखने का अधिकार नहीं है।

अधिकार नहीं है इसमें भी एक बड़ा रहस्य है। वह रहस्य यह है कि जिसमें मुझको दोष दिख रहा है, वह सचमुच उसमें दोष है कि नहीं है, इसमें तो संदेह है और मैं अगर मान लूँ, तो मानने से दोनों तरह का अपराध बनेगा, अपना चित्त भी अशुद्ध होगा और उसके प्रति भी द्वेष भाव बढ़ेगा। साधक को अपना कल्याण अभीष्ट है और यह सच्ची बात है कि अपना कल्याण जिसको अभीष्ट नहीं है उसके द्वारा दूसरे का कल्याण हो नहीं सकता है। इसलिए भी स्वामी जी ने मना किया कि दूसरों में दोष देखो मत।

अब दिखता तो है ही हम लोगों को, और इसके लिए उन्होंने बताया कि अगर कोई आदमी तुमको बुराई करता हुआ दीखता है तो ये कैसे हो सकता है कि तुम देखते रहो और वह बुराई करके पार हो जाए। ऐसा नहीं होना चाहिये। शुद्ध बोध माताजी इस आश्रम में पहली अधिष्ठात्री हुई है, उन्हीं के कारण आश्रम बना। तो उनसे एक बार बातचीत हो रही थी, कोई एक ऐसा प्रसंग आया होगा। कुछ घटना घटित आदि हुई होगी

तो स्वामी जी बार-बार कहें कि माताजी यह आदमी ऐसा काम करके चला गया, तुम जिंदा कैसे रहीं? इसका अर्थ क्या है? कि गलत करने वाला बलवान भी हो और मेरी हानि भी हो सकती हो, प्राण-हानि भी हो सकती हो, जान भी जा सकती हो, तब भी अगर लगता है कि यह बुराई है तो आँखों से देखते हुये उसको होने नहीं देना चाहिए। ये बात महाराज कह रहे हैं।

इसका अर्थ तो स्पष्ट है ना कि बुराई जगत् में दिखती है। तो दो बातें हो गयी, एक तो यह हो गयी कि बुराई अगर देखो तो प्यार से, दुलार से, फटकार से, मित्रता से, जैसे-भी हो उस व्यक्ति का हित दृष्टि में रख करके, उस बुराई को रोकने की चेष्टा करो, लेकिन बुराई करने वाले को बुरा समझना दिल में, बुराई को रोकने में कुछ सक्रिय भाग न लेना और उस पर पूरा विचार न करना, और थोड़ी सी बात से किसी में बुराई का ख्याल बना लेना और उसको दिल में बसाये रखना, यह अपना सर्वनाश है। यह बात है। इसलिए उन्होंने सलाह दी कि भाई एक को दूसरे में जो बुराई दिख रही है, वह कितने अंश में सही है, अपने को पता नहीं है। है लेकिन क्या जाने मैंने थोड़े को ज्यादा समझ लिया है कि ज्यादा को थोड़ा समझ लिया है। आदमी कभी-कभी बड़ा भयानक होता है, और अपने को पता नहीं चलता है।

थोड़ी बहुत मामूली गलती उसकी जान करके हम लोग उसकी तरह से उपेक्षा कर लेते हैं अच्छा भाई जाने दो लेकिन बड़ा भयंकर परिणाम निकलता है। तो कभी बुराई बहुत बड़ी होती है और हमको छोटी लगती है और कभी बुराई बहुत छोटी होती है और अपने को बहुत बड़ी लगती है। तो संदेहात्मक बात यह है। पक्की बात यह नहीं है और दिखाई दे तो उसको रोकना हम सभी का धर्म है। और बुरे को बुरा समझते रहना अपने लिए घातक है। अपना बड़ा भारी नुकसान होता है। इसलिए मना

किया। एक बात और महाराज जी ने बतायी—संत-समागम में कहीं पर लिखी हुई बात है यह कि भाई देखो समाज में कहीं पर बुराई सिखाने का स्कूल खुला हुआ तुमने नहीं देखा होगा। किसी स्कूल, किसी संस्था के ऊपर साइन बोर्ड नहीं देखा होगा कि यहाँ पर हिंसा की ट्रेनिंग दी जाती है कि यहाँ पर चोरी करना सिखाया जाता है कि यहाँ पर धोखा देना सिखाया जाता है। ऐसा तुमने नहीं देखा होगा। बुराई की टीचिंग नहीं होती है। पढ़ाई नहीं जाती है, बुराई। फिर भी बुराई समाज में फैलती है। इसका कारण क्या है? तो उस पर उन्होंने प्रकाश डाला और यह कहा कि किसी को बुरा जान करके और उसके सुधार के लिए तुरन्त ही उसके साथ जो व्यवहार करना चाहिये कर डालो। जोर डाल करके रोकना है तो जोर डालकर रोक दो, प्यार करने से समझा सको तो प्यार करके समझा दो।

कुछ ले दे कर मान जाए तो ऐसे कर दो। ईश्वर की प्रार्थना करके उसकी सद्बुद्धि जग जाए तो ऐसे कर दो। तो वस्तु का घाटा लग जाए और आदमी बुराई करना छोड़ दे, समझ आ जाए उसके। तो प्यार से समझे तो प्यार से समझा दो, डाँट से समझे तो डाँट से समझा दो। सहायता करने से काम बने तो सहायता करके उसको बचा दो। जैसे भी हो तुरन्त उसके साथ वैसा करना चाहिए। फिर उसके बाद उसकी बुराई को दिमाग में रखना नहीं चाहिए। यह बड़ी गलत बात है कि हम बुरा समझते रहें और करें कुछ नहीं। तो उसमें एक सूक्ष्म हानि तो यह होती है कि मेरे भीतर जो दूसरों के प्रति बुरे भाव बनते रहते हैं; विचार बनते रहते हैं, यह आदमी ऐसा है, यह आदमी ऐसा है। तो बुरे विचारों की उत्पत्ति जो मेरे मस्तिष्क में होती है, वह दूसरे के मस्तिष्क के सुप्त बुरे विचारों को जगाती रहती है। इस तरह से बुराई फैलती है।

इसी आधार पर उन्होंने कहा कि देखो अगर बिना स्कूल खोले और बिना ट्रेनिंग दिए समाज में बुराई फैल सकती है तो बिना स्कूल खोले और

बिना ट्रेनिंग दिए सद्विचारों का प्रभाव भी हो सकता है। सबका कल्याण हो, सबका भला हो, सबको सद्बुद्धि मिले, सब अच्छे रहें। किसी भी व्यक्ति को, निकटवर्ती जन समुदाय में से कोई है, चाहे दूरवर्ती है चाहे कैसा भी है अगर कोई उसकी त्रुटि कही दिखायी देती है, भीतर में यह भाव जगता है, हे भगवान यह आदमी अच्छा हो जाता तो ठीक था इससे आपका भी चित्त शुद्ध होगा और आपकी सद्भावना से उसमें भी सद्भाव जागेगा। ये बताते हैं। मान लीजिए कि हम देख रहे कि यह काम खराब है, उसको नहीं करना चाहिये तो यह कायरता होगी कि हम उसको न कहें? कि ईश्वर से प्रार्थना करके छोड़ दें।

हाँ, दोनों ही बातें होनी चाहिए प्रार्थना भी करनी चाहिए और कहने की हिम्मत भी रखनी चाहिए और उसके बदले में अपने पर जो हानि आवे उसको सहने की हिम्मत भी रखनी चाहिए। लेकिन ऐसा कौन कर सकता है। भाई साहब, स्वामी जी महाराज ने उसमें जो बात बतायी है, वह बड़े रहस्य की है कि बुराई करने वाला भी तुमको अपना मालूम हो। तब तुम सब कर सकते हो और सब सफलता मिल सकती है। गैरियत का और द्वेष का भाव जब रहता है भीतर तो कहने में डर भी लगता है, और उससे जो हानि होती है उसको सहने को आदमी तैयार भी नहीं रहता है।

दुष्टों की दुष्टता में कौन फँसे? ऐसा? और जो बुराई कर रहा है वह भी मेरा अपना है तो हम कैसे देख सकेंगे? कि वह गलती करके अपने को गड्ढे में डालेगा देखा ही नहीं जाएगा।

प्रश्न—यह तो ठीक है लेकिन वह अपनी गलती नहीं मानेगा।

उत्तर—हाँ, वह नहीं मानेगा, अपनी गलती नहीं मानेगा, उसको आप टोकते जाइएगा तो दस ऊपरी बात बना करके आपकी बात को गलत करने के लिए वह जो चाहे सो करेगा। एक गलती किसी की बताओ

तो उसके समान वह पाँच गलती आपकी बताएगा। वह सुनेगा ही नहीं, आपने उसको क्या कहा। तो सब तो, उसकी प्रतिक्रिया तो देखना ही नहीं है। अपने में इतनी हिम्मत होनी चाहिए और भीतर में इतना प्यार होना चाहिए कि उसकी रुखाई से अपने जीवन में नीरसता न आए।

यही तो हो जाता है ना! दूरी-दूरी होने लगती है। हम लोग मनोवैज्ञानिक अध्ययन में पढ़ा करते थे, पढ़ाया करते थे—फिजीकल नियरनैस एण्ड साइक्लोजीकल डिस्टेन्स। शरीर से एक परिवार में रह रहे हैं, एक ही घर में रह रहे हैं। एक-दूसरे से बातचीत हो रही है, एक-दूसरे के साथ मिल करके काम करना जरूरी है, यह तो फिजीकल नियरनैस हो गया। शरीर से नजदीक-नजदीक रहते हुए भी बड़ा जबरदस्त साइकलॉजिकल डिस्टैन्स होता है, वह साइकलॉजिकल डिस्टैन्स जो है, मनोवैज्ञानिक दूरी, मन से एक-दूसरे से दूर हो गए, तो व्यक्ति के जो घर का वातावरण है, समूह का, चाहे आश्रम का, बहुत नीरस हो जाता है।

वास्तव में हिम्मत भी होनी चाहिए और दिल में प्यार भी होना चाहिए। स्वामी जी महाराज की बातें क्यों नहीं बुरी लगती थीं और जो लोग बुरा मान गए वे लिंक में से छूट ही गए। पछता रहे हैं कि बड़ी भूल हो गयी मुझसे। और जिन लोगों ने बुरा नहीं माना, बुरा लगने पर भी सोचा कि भाई ये तो हमारे हित-चिंतक हैं, हमारे प्यारे हैं, जरूर मेरी भलाई के लिए ऐसा करते होंगे। खूब कसके स्वामी जी महाराज ने डाँटा, फटकारा लेकिन उसके भीतर कितना प्यार है अगाध।

तो जिन लोगों ने इसको जाना उनको बुरा नहीं लगा। स्वामी जी महाराज को बिल्कुल ही डर नहीं लगता था, कोई भला मानेगा कोई बुरा मानेगा और बिगड़ते तो कह भी देते अरे बुरा मानेगा तो दो रोटी और खा लेना। मैं तुमको गैर मानता हूँ क्या? मेरा पराया है क्या? खूब डाँटते,

अच्छी तरह से हिला डुला देते, फिर उसके बाद बस वही प्यार है। तो ऐसा वही कर सकता है जिसको कि बुराई करने वाला भी गैर न लगे। बड़ी भारी बात है। अपना लगेगा तो अपने से रहा ही नहीं जाएगा उसका सुधार किये बिना। बहुत जोरदार बात है।

तो प्यार का होना और अपनेपन का होना हृदय का सरस होना और बुराई करने वाले के प्रति भी अपने में उदारता रखना, ये सब ऐसी अच्छी बातें हैं कि ध्यान लगाने में, भजन करने में, भगवत-भक्त होने में सबमें मदद डालती है। और हृदय में अभिमान रखो कि मैं तो बहुत अच्छा हूँ और जो दूसरे लोग हमारे साथ हैं, ये बड़े नादान हैं बड़े अजानकार, ये ठीक नहीं है। ऐसा समझ करके अपने गुणों के अभिमान पर उनके संग अड़ जाओ तो साइकलोजीकल डिस्टेन्स तो होगा ही और एक सामूहिक जीवन का मजा तो फीका हो ही जाएगा, अपने भीतर भी नीरसता भर जाती है जो कि साधना के लिए बहुत हानिकारक है। तो साधु संत महात्मा जो होते हैं, करुणावान महापुरुषों के जीवन को देखा होगा आपने जितना भी देखने को मिला, सुनने को मिला सबमें आपने देखा होगा कि भूल करने वाले के प्रति भी उनके भीतर बड़ी प्रियता होती है।

बहुत प्यार करते हैं और उनके प्यार ही का जादू होता है जो कि भूल करने वाले को सुधारता है। नहीं तो समझ बूझ क्या बुराई करने वालों की कम होती है। क्रिमिनल साइक्लोजी हम लोग पढ़ा करते थे, उसमें यह आता था कि क्रिमिनल्स जो होते हैं, उनका लेवल ऑफ इन्टेलीजेन्स बहुत ऊँचा होता है, एवरेज से ज्यादा।

स्वराज्य होने के बाद शिक्षा संस्थाओं में एक प्रोग्राम बनाया कि प्रोफेसर लोग जाएँगे और जेल के कैदियों को पढ़ाएँगे। उन दिनों में मैं पढ़ती थी तो हमारे आचार्य लोग जब जेल में से पढ़ा कर आते थे तो बातचीत करते थे तो कहते थे कि जेल के कैदियों से बात करो और यहाँ

आकर क्लास में बात करो दोनों में बड़ा फर्क मालूम होता है। वे तो इतने इन्टैलीजेन्ट हैं कि मुँह से एक बात निकले नहीं कि झट पकड़ लेते हैं। उनका लेवल ऑफ इन्टैलीजेन्स बहुत ऊँचा होता है। तो उनकी समझ बूझ कम थोड़े ही है कि आपका समझाना, बुझाना वे मानेंगे, आप एक ढंग से समझाएँगे तो दस बात आपको समझा देंगे। उससे काम नहीं बनता है। लेकिन हृदय में अपनापन, यह बुराई करने वाला भी मेरा ही है। चाहे जगत् के नाते मेरा है, चाहे आत्मा के नाते मेरा है, चाहे प्रभु के नाते मेरा है। ये मेरा ही है।

यह अपनेपन का भाव जो है वह व्यक्ति की वाणी में शक्ति देता है, जादू देता है, स्पर्श में वह अनुभव देता है, कि जिससे बुराई करने वाले का दिल बदल जाता है।

इसके अलावा यह बात भी है कि हम सब लोग सर्वज्ञ है नहीं, और सब प्रकार के सब विकार नाश हो गए, ऐसा भी नहीं, तो जहाँ कहीं अपनी गलती मालूम हो, तो अपने को भी स्वीकार करनी चाहिए कि अच्छा, मैंने ऐसा समझा था, यह ठीक नहीं है। अच्छी बात है। हो गयी बात खत्म अपना भी मानना चाहिये।

प्रश्न—सत्यं शिवं सुन्दरम् की सहज विवेचना।

उत्तर—सहज विवेचना से हमको बहुत हँसी आती है। सहज विवेचना क्या होगी भाई। स्वामी जी महाराज ने एक बार एक घटना सुनायी थी, यह कहा था कि गंगा जी के तट पर बहुत से साधु संत लोग ऊँचे दर्जे का सत्संग कर रहे थे, बहुत देहातीत जीवन की चर्चा चल रही थी, तो स्वामी जी महाराज के गुरु महाराज भी थे उस समय ऐसा मेरा ख्याल है, उन्हीं के लिए कहा था कि और किसी महात्मा के लिए। तो कहने लगे कि बहुत बढ़िया से ऊँची-ऊँची बातों की चर्चा होती रही, वे महात्मा दूर बैठे थे, सुन रहे थे जब चर्चा करने वालों की चर्चा खत्म हो

गयी वे महात्मा कहने लगे गंगा के तट पर असत् के संग में सत् की चर्चा। देहधारी होकर के देहातीत जीवन की बात करना। तो ऐसे ही मुझे यह लग रहा है कि एक ओर तो आप सत्यं, शिवं, सुन्दरम कह रहे हैं और दूसरी ओर कह रहे हैं, सहज विवेचना। सत्य से दूर रहकर शिव से दूर रहकर, सुन्दर से दूर रहकर सहज विवेचना कैसे हो पाएगी भाई! कठिन भी विवेचना बन जाए तो समझो कि बन गयी।

और अब चर्चा ले लीजिए। अब चर्चा यह है कि मनुष्य को स्वभाव से ही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् आकर्षक लगता है, पसन्द आता है। सत्य में नित्यता है, सातत्य है, कन्टीन्यूटी है उसमें कहीं पर कुछ टूटने का प्रश्न नहीं है। और शिवं में कल्याण है सब प्रकार से और सुन्दरम् में आकर्षण है। सबसे अधिक सुन्दर, परम सुन्दर, अनन्त सौन्दर्यवान कौन है, जो कीड़े मकोड़े को, प्राणी मात्र को, वनस्पति को चर-अचर को सबको अपनी मधुरता से, अपनी सुन्दरता से अपनी ओर आकर्षित करके रखता है। तो ऐसा जो एक तत्त्व है, जो कि इस भौतिक जगत् में प्रकट नहीं है। अपने रूप में प्रकट नहीं है, जगत् के रूप में तो प्रकट है ही तो वहाँ वह दिखाई नहीं देता। यहाँ जो आज सुन्दर लग रहा है कल असुन्दर बन जाता है। आज जो बहुत ही आकर्षक लग रहा है, कुछ ही देर में विकर्षक हो जाता है। अभी जो सत्य लग रहा है, थोड़ी देर में मिथ्या प्रमाणित हो जाता है। यहाँ ऐसा कुछ है नहीं कि जो हमारे भीतर सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की माँग को भर सके।

बाह्य जगत में कुछ ऐसा नहीं है। तो फिर अब सोचे मनुष्य कि है कि नहीं और अपने को चाहिए भी। ऐसा कैसे हो? तो मैं मानव जीवन की सबसे बड़ी विशेषता मानती हूँ कि मरणशील शरीर को लेकर के और वह पुस्तकों में से पढ़ता है, वाणी से विवेचना करता है, श्रवण से सुनता है। क्या पढ़ता है? क्या सुनता है? क्या बोलता है? कि मरणशील

शरीर को लेकर के अविनाशी जीवन के बारे में बातें करता रहता है, सोचता रहता है, विचारता रहता है। इसका अर्थ यह है कि जिस समय हम लोग नाशवान् शरीरों के साथ सम्बन्ध जोड़कर बैठे हैं, उसी समय हमारे ही अहम् में अविनाशी तत्त्व भी विद्यमान है। अब चूँकि मैंने नाशवान् से सम्बन्ध जोड़ा इसके कारण से भीतर में सीमा आ गयी, पराधीनता आ गयी, नीरसता आ गयी तो उसको सहन नहीं कर सकते जो वर्तमान दशा है वह अच्छी लगती नहीं है, सहन होती नहीं है। और जो जीवन है वह प्राप्त जैसा लगता नहीं है। उसकी ओर आकर्षित हो हो करके सत्यं, शिवं, सुन्दरम के बारे में चर्चा चलती रहती है।

अब करना क्या चाहिए? तो करना यह चाहिए कि जो बाहरी सम्बन्ध है हमारा आँखों को लेकर दृश्य जगत् से, कानों को लेकर ध्वनि जगत् से, जीभ को लेकर स्वाद जगत् से, इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं अपने पास। तो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से भौतिक तत्त्वों का जो सम्पर्क अपना बनता है उसके सम्पर्क बनने के परिणाम को अच्छी तरह से देखना चाहिए। इसी के लिए व्यक्तिगत सत्संग की बात मानव सेवा संघ में बड़े जोर से बतायी गयी। अकेले-अकेले बैठे रहो और देखते रहो, सोचते रहो। ऐसा करने से क्या हुआ? ऐसा करने से क्या हुआ? तो जिस समय आपको पता चलेगा कि सचमुच यहाँ पर कोई चीज ऐसी नहीं है जो मेरे भीतर की माँग को पूरी कर सके, तो फिर बाहर का मूल्य घट जाएगा।

छोड़ करके भाग जाएँगे सो बात नहीं है कि आँख बन्द करके दृश्य जगत् से अपने को हटा लेंगे सो बात नहीं हैं। महाराज जी कहते हैं "आँखें दी हैं भगवान ने भले आदमी खोल करके देख दुनिया को। रूठ के बैठता काहे को है, संसार से आँखें बन्द करके, गुफा में घुस के। बनाने वाले ने बनाया है, तो देख, लेकिन आँखें खोलकर देख। विवेक के प्रकाश में देख। जीवन के अनुभव को सामने रखकर देखो। तो बन्द कर देने की

बात नहीं है कि आँखों को फोड़ देने की बात नहीं है कि भाग जाने की बात नहीं है। बात केवल इतनी है कि विवेक के प्रकाश में इनके परिणामों को देख करके अगर इनका मूल्य जीवन में से निकल गया तो सचमुच सत्यं क्या है? अपने आप भीतर से प्रकाशित हो जाएगा और उसी तरह से जो सत्य है वह शिवं भी है, जो सत्यं है वह सुन्दरं भी है, वे एक ही की तीनों विभूतियाँ हैं।

एक ही अनन्त तत्त्व है। एक ही अनन्त जीवन है उसको सत्य कहेंगे तो वह शिव भी है, सुन्दर भी है। उसको शिव कहेंगे तो वह सत्य भी है, सुन्दर भी है। उसको सुन्दर कहेंगे तो वह सत्य भी है, शिव भी है। एक ही अनन्त तत्त्व की विभूतियाँ ये हैं। उसी तत्त्व के आधार पर हम लोगों का व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। इसलिए जब तक हम उससे विमुख हैं तब तक उसकी आवश्यकता मालूम होती है और विमुखता मिट जाती है तो उससे अभिन्नता हो जाती है।

प्रश्न—जीवन का सबसे बड़ा त्याग क्या है?

उत्तर—जीवन का सबसे बड़ा त्याग यह है कि अपने को त्याग का भास न हो कि मैंने त्याग किया है। अब जहाँ से आवे जब तक किसी को मालूम होता है कि मैंने यह छोड़ दिया मैंने यह छोड़ दिया, मैंने इतना दे दिया, मैंने इतना कर दिया, तब तक उसको त्याग का बन्धन बना रहेगा अहम् का पोषण होता रहेगा। और सबसे बड़ा त्याग है कि त्याग का भास त्याग दिया जाए। उसको पता ही न चले कि मैंने इतना त्याग किया है।

प्रश्न—यदि दुःख सहने की सामर्थ्य आ गयी है परमपिता की सहज कृपा मानकर किन्तु आए हुये सुख से तिलांञ्जलि लेने की सामर्थ्य नहीं है। इससे आगे का साधन क्या है?

उत्तर—अहा! ये तो बहुत ही सहज है, यदि दुःख सहने की सामर्थ्य आ गयी तो मानव सेवा संघ ने सहने का परामर्श नहीं दिया उन्होंने कहा

भैया, तुम दुःख के भोगी मत बनो दुःख के उपयोगी बनो। सहन करने की सामर्थ्य तो सच पूछिए परमात्मा सभी प्राणियों को देते हैं। दुःख के आने से पहले दुःख से जितना घबराता है, आदमी आ जाने के बाद उतना नहीं घबराता है। और जिस क्षण में नया-नया दुःख आ गया, उस समय आदमी जितना अधीर रहता है, कुछ दिनों के बाद उतना अधीर नहीं रहता है।

दुःखी लोगों को सम्भालते हुए महाराज जी ने कितनी बार कहा कि देखो भाई जहाँ से दुःख आता है, उसको सहने की शक्ति भी वहीं से आती है। तो सहने का परामर्श यहाँ नहीं दिया गया है, परमपिता की सहज कृपा मानकर उसको हर्षपूर्वक उसका तो स्वागत करने का परामर्श दिया गया है कि अगर किसी प्रकार की प्रतिकूलता आ गयी तो प्रभु की कृपा मानो, उनके मंगलमय विधान का काम मानो। तो हर्षपूर्वक उसका स्वागत करो, आओ भाई बैठो बताओ मुझे क्या कहने आए हो, क्या सिखाने आए हो। कौन-सा त्याग कराने आए हो कि दुःखहारी हरि से मिलाने आए हो।

यह सहना नहीं हुआ यह हर्ष पूर्वक उसका स्वागत करना हुआ। जिसको दुःख का हर्ष पूर्वक स्वागत करने आ गया, उसमें सुख की वासना रहेगी नहीं। तिलाञ्जलि देने की ताकत खोजनी नहीं पड़ेगी। वह अपने आप से ही बात पूरी हो जाएगी। जरा भी उसमें लालच शेष नहीं रहेगा। ये बात, ये दोनों तरह की बातें इकट्ठे क्यों मन में उठती हैं?

अब मेरी समझ में आती है। पहले तो मैं उलझ जाती थी। स्वामीजी महाराज मुझको बताते रहते थे कि देखों भई बात ऐसी नहीं है। उलझो मत। तो पहले तो लगता था कि ये दोनों कन्ट्राडिक्ट्री बातें एक साथ हो गयी, परस्पर विरोधी, लेकिन यह परस्पर विरोधी नहीं है। अभी तक मैंने दुःख का हर्षपूर्वक स्वागत नहीं किया, इसलिए सुख की दासता मिटी नहीं। लगता है दुःख को तो सह लेंगे भाई लेकिन सुख कैसे छोड़ेंगे? दूर से

अभी कल्पना कर रहे हैं, इसलिए ऐसा लग रहा है। परन्तु अगर दुःख का स्वागत करना आ जाएगा, उसमें प्रभु की कृपा का दर्शन होने लग जाएगा तो सुख का कोई मूल्य आपके जीवन में रहेगा ही नहीं। फिर भी अब आप ही के स्टेज पर उतर के, आप ही के स्तर से बात करूँ, तो मैं यह कहूँगी कि अगर सुख आ गए और आपके भीतर उसके प्रति कुछ आकर्षण मालूम हो, सर्वसमर्थ प्रभु से प्रार्थना कीजिये।

अब मैं तो दोनों तरह की प्रार्थना करती है। प्रतिकूलता आती रहती है, आती रहती है, डरती रहती हूँ। तो घबराकर के कभी-कभी कहती हूँ, हे महाराज मैं बहुत दुर्बल हूँ आप तो जानते ही हैं। उतना ही दीजिएगा जितना में सन्तुलन बनाए रखूँ उससे ज्यादा मत ले आना। उतनी ताकत नहीं है मुझमें सँभलेगा नहीं। ऐसे भी कहती हूँ और अब अगर अनुकूलता भी आती है तो उसमें भी याद करती रहती हूँ, महाराज अच्छा तो लग रहा है, आपने तो बड़ी कृपा की, यह मेरा राग रहा होगा मिटाने के लिए आपने ऐसा किया। लेकिन महाराज अब ज्यादा नहीं, सँभालकर रखिएगा मुझको। हम सँभाल नहीं सकेंगे कहीं, उसमें भूल न जाऊँ?

यह भी एक तरीका है अगर डर लग रहा है, प्रश्नकर्त्ता भाई को, कि क्या करेंगे आए हुए सुख को तिलाञ्जलि देने की सामर्थ्य नहीं है। तो सामर्थ्य भले नहीं है, लेकिन आप उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। कि आए हुए सुख को पहन न लें, ओढ़ न लें, खा पी न लें, खुराक न बना लें, तो आप सजग रहिए। जैसे-जैसे अनुकूलता सामने आए, समर्थ प्रभु को पुकारते रहिए, तो बच जाइएगा। ये दोनों ही बातें होती है और में तो समझती हूँ कि दुःख का आना, साधक के लिए उतना खतरनाक नहीं है जितना सुख का आना।

दुःख हमेशा सजग बनाता है, दुःखहारी हरि की याद दिलाता है। अहम् को गला देता है, जिस सुख-सुविधा के आधार पर हम अपने को

दूसरों से सुपीरियर मान रहे थे, अपने को बहुत भाग्यशील मान रहे थे जिस सुख-सुविधा में आने वाली कठिनाइयों को हम भूले हुए थे, तो वह सुख-सुविधा जब चली गयी, तकलीफ आ गयी, तो दोनों ही तरह की बातें होती है। अभिमान के घट जाने से चित्त शुद्ध और शांत होता है और दुःखहारी हरि के याद आने से दुःख सदा के लिए मिट जाता है। मैं तो समझती हूँ कि साधक की साधना में और उसके आन्तरिक जीवन की प्रगति में, दुःख का आना उतना खतरनाक नहीं है, जितना सुख का आना। इसलिए साधकों को आए हुए सुख के प्रति अधिक सावधान रहना चाहिए। अब प्रश्न जितने आये थे, जो कुछ सूझा सो मैंने निवेदन कर दिया। अब और किसी बात की व्याख्या सुननी हो तो बताइए।

प्रश्न—बिना आधार के शांत हो जाए और प्राण बिना निरोध के सम हो जाये यह उसी के क्रम में है?

उत्तर—होता है ऐसा, बिना निरोध के प्राण सम होता है। जैसे प्राणायाम का अभ्यास करते हैं योगीजन, उस दिन चर्चा हो रही थी कि प्राण-शक्ति का मन की शक्ति से बड़ा घना सम्बन्ध है, जैसे श्वांस चलती रहती है ना! साँस की गति के साथ-साथ मन भी गतिशील रहता है। और मन की गति अगर धीमी हो जाए, तो आप देखेगे साँस की गति भी धीमी हो जाती है। अगर कोई समस्या आपके सामने आ गयी और गहन चिन्तन में आप लग गए, गम्भीर, तो साँस भी धीरे-धीरे चलने लगती है। इतना तो अनुभव होगा ही। मन की गति और श्वांस की गति दोनों की गति में बड़ा घना सम्बन्ध है।

इसलिए योग के अभ्यास में मन की गति को शांत करने के लिए प्राणों पर नियन्त्रण का एक बड़ा भारी अभ्यास चलता है। वह पद्धति है। क्या पद्धति है वह कि साँस अगर भीतर गयी तो भीतर भी उसके ठहरने का एक स्थान है। तो भीतर ले जा करके, उसको ठहराओ, बाहर निकलने से पहले अन्दर जाकर करके कुछ देर रुके और बाहर निकलने के बाद

भी। उसके लय होने का, महाप्राण का क्षेत्र है, भीतर भी है, बाहर भी है। तो साँस जब निकलती है तो बाहर जा करके भी वह प्राण वायु जो है यह महाप्राण वायु में कुछ देर विराम ले। प्राकृतिक बात भी है, जिस सोर्स में से यह प्राण वायु मिली हम लोगों को उसमें जा जा करके अगर थोड़ी-थोड़ी देर टिकती रहेगी, तो उसकी शक्ति बढ़ती रहेगी, सबल होती रहेगी।

इसलिए इस प्रकार का एक अभ्यास चलता है कि अन्दर जाए तो अन्दर में कुम्भक करो और बाहर जाए तो बाहर में कुम्भक करो, कुम्भक का मतलब यह है कि वहाँ जा करके कुछ देर ठहर जाए। तो प्राणों का निरोध कहलाता है ये। कि उसकी गतिशीलता की जगह-जगह पर जा करके रोकना। भीतर जाए तो भीतर भी और बाहर आए तो बाहर भी। यह रोकने का अभ्यास जो चलता है यह प्राणों का निरोध कहलाता है।

प्राण शक्ति है, साँस की गति के साथ उसका सम्बन्ध है, पर्यायवाची है। साँस की गति, मन की गति, इसका सम्बन्ध है। तो यह निरोध का एक अभ्यास चलता है। इस प्रकार से उनको रोका जाए और ज्यादा देर तक इन दोनों को एक जगह पर, एक साथ रोक लिया जाए तो गतिशीलता के रुकने से बहुत प्रकार की भौतिक शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है। ऐसा तो बहुत छोटे-छोटे अभ्यासी लोग भी जान लेते हैं। दूसरों के मन में क्या हुआ सो जान लिया, उधर क्या हो रहा है सो पता चल गया। बहुत प्रकार का चमत्कार सब आता है। यह चला अभ्यास के बल पर। स्वामी जी महाराज ने कहा जैसे उन्होंने कहा कि "दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो जाए। चित्त बिना आधार के शांत हो जाए वैसे ही उन्होंने कहा कि प्राण बिना निरोध के समय हो जाए। यह किसका होता है, और कब होता है? तो उसके लिए अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न, समर्पण होना आवश्यक है।

प्रवचन 4

उपस्थित महानुभाव सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो।

संतवाणी में हमने जीवन का सत्य सुना और उस सत्य के अनुसरण की विधि को भी सुना। कितनी सरल बात है और उसका सम्बन्ध सबसे ऊँचे जीवन से है। इस पर महाराज जी ने हमारा ध्यान दिलाया। धर्मात्मा होना हम सभी भाई-बहनों के लिए सम्भव है, अनिवार्य है, दोनों ही बातें हैं। अनिवार्य भी है, और सम्भव भी है। धर्मात्मा होने का व्रत क्या बताया कि सबके प्रति स्नेह और सद्भाव और सहयोग। जो सभी के लिए हृदय में सद्भाव रखता है,

सबका भला हो, सबका भला हो, कोई दुःखी न रहे किसी का अकल्याण न हो, सबको सद्बुद्धि मिले, सबका कल्याण हो, इस प्रकार की सद्भावना जिसके जीवन में रहती है, वह सबके प्रति सहयोग देने को भी तैयार रहता है। हृदय में सद्भावना हो, और व्यवहार में सबके लिए सहयोग हो। बिल्कुल व्यावहारिक स्तर की बात मालूम होती है, ऐसा लगता है कि भाई समूह में रहने वाले के लिए यह एक व्यवहार का तरीका है।

लेकिन इसका बड़ा गहरा सम्बन्ध है आध्यात्मिक जीवन से। अनुभव करने पर ही इसका पता लग सकता है कि जो लोग जगत् के नाते, आत्मा के नाते, परमात्मा के नाते, किसी भी नाते से सबके प्रति सद्भाव और सहयोग रखने लग जाते हैं उनमें बड़ी भारी शक्ति आ जाती है। कौन-सी शक्ति? कि वे स्वयं अपने लिए संसार की आवश्यकता अनुभव नहीं करते हैं। बहुत बड़ी बात है। ऐसा तो हम सभी लोग सोच सकते हैं कि सबके प्रति सद्भाव रखो और सहयोग देने की मनोवृत्ति रखो तो इससे सुन्दर समाज का निर्माण हो जाएगा। यह परिणाम तो सबको साफ दिखायी देता है।

जितने भी हम सब लोग मानव है और समझ-बूझ रखते हैं, सचेत हैं, सुन्दर समाज का निर्माण करना चाहते हैं तो उनके लिए महाराज जी ने एक मन्त्र बताया कि सबके प्रति सद्भाव और सहयोग रखिए। सचमुच अगर किसी भी मनुष्य के भीतर दूसरों के प्रति दुर्भावना और नुकसान पहुँचाने की बात न रहे तो समाज में से बुराई का अन्त हो जाए, खत्म ही हो जाएगा। क्योंकि बुरे संकल्प पहले हमारे भीतर उपजते हैं तब वे बाहर में जाकर के कहीं पर किसी को नुकसान पहुँचाते हैं। मनुष्य अपने धर्म से पहले च्युत हो जाता है, तब समाज में दुःख का सृजन होता है।

एक दिन एक बीमार की बात मुझको बता रहे थे लोग। तो कह रहे थे कि 30 इन्जैक्शन उसको लगे किसी के बारे में कह रहे थे और 29 इन्जैक्शन लग गए थे तब तक रोगी की हालत बिल्कुल ठीक थी, टिटनेस था कि क्या था ऐसे कुछ था और तीसवाँ लगा तो उसका रियेक्शन ऐसा हुआ कि रोगी वहीं पर खत्म हो गया। तो एक ही बैच में से, एक ही बार का मँगाया हुआ, इतने डिब्बे में इन्जैक्शन रखे थे और नर्स निकाल-निकाल कर इन्जैक्शन लगाती जा रही थी और ऐसा हो गया। तो उसमें अब हम लोग उस दवाई का क्या दोष दें।

मैंने सोचा तो मुझे लगा कि अगर मनुष्य अपने कर्त्तव्य से च्युत न होता, अगर गलत दवाइयों का निर्माण ही नहीं होता, रोगी के प्रति दवा बनाने वाले का ख्याल होता कि बीमार शरीरों को मदद देने के लिए दवाई बनानी है तो गलत दवाइयों का निर्माण नहीं होता और रोग मिटाने के जगह पर दवाइयाँ प्राण न लेती। भूल कहाँ हुई। ऐसा सोचने से लगता है कि मनुष्य स्वयं जब धर्म से च्युत हो जाता है तो समाज में अनेक प्रकार के दुःखों का सृजन होता है। ऐसे सब एक्सीडेन्ट्स सब होते रहते हैं, ट्रेन्स के भी, बस के भी तो उसमें भी मुझे लगता है कि अगर दो ट्रेन आपस में लड़ गयीं भिड़ गयीं, एक्सीडेन्ट हो गया, बहुत से लोग मर गए अब

उसमें गाड़ियों का तो कोई दोष है नहीं, हम होते हैं, उसके चलाने वाले। तो अपने धर्म के प्रति हम सजग होते हैं, कर्त्तव्य के प्रति सजग होते किसी तरह की कोई असावधानी हम नहीं करते, तो आज इतनी संख्या में जगह-जगह पर दुर्घटनाएँ हो रही है और हजारों-हजारों लोग पीड़ित हो जाते हैं, तो ऐसा नहीं होता। तो कही भी आप देखिये, खाद्य पदार्थों की खराबी से बीमारी बढ़ जाएँ और दवाइयों की खराबी से लोगों का देहान्त हो जाए। इस सबके भीतर किसका दोष दिखाई देता है? मनुष्य का। तो विवेक का अनादर कर देना, कर्त्तव्य की ओर से लापरवाह हो जाना, अपने धर्म से च्युत हो जाना, इसी के कारण समाज में इतने प्रकार की तकलीफें नित नयी उत्पन्न होती रहती है। तो आध्यात्मिक विकास के लिए और संसार के राग से मुक्त होने के लिए, संसार के ऋण से उऋण होने के लिए, संसार की दासता से मुक्त होने के लिए पहली बात है साधक के जीवन में कि वह धर्मात्मा बने। और धर्मात्मा बनने की पहली शर्त है कि हमें सबके प्रति सद्भाव और सहयोग रखना चाहिये।

सरदार शहर में एक दिन इसकी चर्चा हो रही थी, तो मैं ऐसे बता रही थी, कि भई दूसरों के प्रति जो हम लोग कुछ अपकार करते हैं तो बल के अभिमान में आकर अपकार करते हैं। जो निर्बल होता है वह तो किसी का अपकार कर ही नहीं सकता। साहस ही नहीं होगा उसका, डरेगा, सामर्थ्य ही नहीं है उसमें। निर्बल आदमी तो ऐसा करता नहीं है। और सबल आदमी अगर विवेक के प्रकाश में चलता है तो वह प्राप्त बल का दुरुपयोग कभी करता ही नहीं है। जब करेगा किसी की सहायता ही करेगा, सहयोग ही करेगा। तो बलवान है और विवेक-विरोधी है, विवेक के प्रकाश का आदर नहीं करता है तो बल के अभिमान में आकर के वह तकलीफ पहुँचाता है, दूसरों को। तो उसको ऐसा लगता है कि हम तो ऐसा नुकसान कर दे सकते हैं, हम तो इनको पाठ पढ़ा सकते हैं, हम तो इनको मजा चखा दे सकते हैं।

उसे ऐसा लगता है कि हमारे जैसे बलवान के साथ इन्होंने ऐसा व्यवहार क्यों किया? इनको हमारे बल का पता नहीं है अभी हम इनको दिखाते हैं। ऐसा करके जो दूसरों के प्रति नुकसान पहुँचाने के लायक व्यवहार कर देता है तो वह बल का अभिमानी अपना जितना नुकसान करता है, उतना दूसरे का नहीं कर सकता है। अपना नुकसान क्या हुआ? कि उसके बल की तो हानि हो गयी क्योंकि प्रकृति का दिया हुआ बल है। प्रकृति की शक्ति से वह शक्तिमान हुआ है और प्रकृति के प्राणियों को कष्ट पहुँचाने में बल का उपयोग कर दिया जाए, तो वह जिस खजाने से बल आ रहा था वहीं का दरवाजा बन्द होता है।

आसानी से ये बात सब लोग समझते भी नहीं है, मानते भी नहीं है। महाराज ने बहुत विश्वास से बताया है, हम लोगों को। एक क्षति तो यह हो गयी। दूसरे क्षति उससे भी बड़ी क्षति क्या हो गयी। बल कम हो गया यह तो भौतिक हानि हो गयी और उससे भी बड़ा नुकसान क्या हो गया कि जीवन मिला था संसार में, संसार की दासता से मुक्त होने के लिए, पराधीनता से मुक्त होने के लिए, शान्ति और जीवन-मुक्ति को पाने के लिए इसके लिए जीवन मिला था, तो यह उद्देश्य ही नष्ट हो गया। क्या हो गया? कि सबके प्रति सद्भाव और सहयोग का जो आचरण है, धर्माचरण जिसको कहेंगे, उससे हट जाने का यह फल होता है कि संसार की दासता जीवन में से निकलती नहीं है। बड़ा भारी नुकसान उसका हो गया कि जीवन-मुक्ति की साधना ही वह नहीं कर सकेगा न ध्यान लगा सकेगा, न शांत रह सकेगा, न देह के अभिमान से छूट सकेगा, न संसार की पराधीनता से छूट सकेगा।

ऐसी चर्चा में कर रही थी और इसके सम्बन्ध में अपना एक उदाहरण सुनाया था मैंने।स्वामी जी महाराज से मेरी बात हुई थी तो परीक्षक बन करके परीक्षार्थियों की उत्तर पुस्तिकाओं के साथ कैसे क्या करना चाहिए

ऐसा ही कुछ प्रश्न किया था कि महाराज समय भी कम मिलता है, काम भी ज्यादा रहता है, ठीक तरह से न करो तो भीतर अच्छा भी नहीं लगता है, देर हो जाए तो झंझट खड़ा होता है। तो स्वामी जी महाराज ने कहा वह सब तो युनिवर्सिटी का जो कानून है वह जहाँ है, सो वहाँ है लेकिन मैं तुम्हें एक बात बताता हूँ कि अगर इस काम के करने में, चाहे किसी भी काम के करने में, लापरवाही की गयी, असावधानी की गयी, जल्दीबाजी की गयी, ठीक तरह से नहीं किया गया तो कार्य करने में अगर भूल रह जाएगी तो करने का राग नहीं मिटेगा। बड़ी जोरदार बात है।

सब लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते हैं। शुद्ध काम करो, निष्काम कर्म करो और ऐसे कर्म करो, वैसे कम करो। बहुत सी बातें है कर्म के सम्बन्ध में लेकिन जब मैंने यह सुना कि छोटे से छोटा काम क्यों न हो अगर राग-निवृत्ति की साधना के रूप में करने का है तो उसको पूरी तरह से सही ढंग से करना जरूरी है। और अगर गलत-सलत ढंग से छोटा समझ करके, लापरवाही के साथ किया गया, गलती-सलती करके खत्म किया गया, उसको ज्यों का त्यों पूरा करके, तो उसका एक बड़ा भारी दुष्परिणाम यह होगा कि काम करते-करते करने की शक्ति खत्म हो जाएगी और करने का राग नहीं मिटेगा।

तो कुछ विचारक लोग आए थे। स्कूल और कॉलेज के अध्यापक लोग भी आए थे, कुछ कम्युनिष्ट विचार रखने वाले, नयी उम्र के टीचर लोग भी सब आए थे। तो उन्होंने बहुत पसंद किया, कहा कि ऐसी बात तो हम लोगों ने कभी सोची ही नहीं था। मामूली काम दिखाई देता है। ऊपर से, कौन देखता है, कौन जानता है, ज्यों, त्यों करके किसी तरह से पूरा करके खत्म कर दिया, छुट्टी पाएँ। तो उस छोटे से काम के लिए थोड़ी देर के झंझट से छुट्टी पाने के लिए अगर गलत सलत ढंग से करके

छुट्टी कर दिया तो बहुत दिनों के लिए संसार की आसक्ति में और राग में बँधे हुए रह गए। बहुत बड़ी बात है। झाड़ू लगाने का काम है, जल पिलाने का काम है, रसोई बनाने का काम है, घर सँभालने का काम है, कुछ भी काम है। मनुष्य के लिए हर काम सावधानी से करने का है और पवित्र भाव से करने का है।

भाव की पवित्रता में महाराज जी ने सद्भाव को प्रधानता दी कि भाई किसी का किसी प्रकार से मेरे द्वारा नुकसान न हो, सबके हित की भावना दिल में रहे तो हमारा कार्य जो है वह दूसरों के लिए हितकारी भी सिद्ध होगा और दूसरों के लिए तो मामूली लाभ पहुँचाएगा लेकिन अपने लिए बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि हम करने के राग से छूट जाएँगे, तब शरीर का मोह भी छूट जाएगा, तब संसार की आवश्यकता भी अपने लिए नहीं रहेगी। अब ऐसा सोच करके देखिये कि अनेकों बार समूह में रहते हुए बहुत-सी बातों को हम लोग सब देखते भी रहते हैं, चलते भी रहते हैं, करते भी रहते हैं। बातें भी होती रहती हैं, और बरदाश्त भी करते रहते हैं। क्या बात है तो समूह में रहना अपने लिए बहुत जरूरी मालूम होता है। सबके सहयोग के साथ शरीर का निर्वाह करने की बात बहुत जरूरी मालूम होती है। कई बार मैंने वृद्धजनों को देखा है कि नयी पीढ़ी की बहुत-सी बातें उनको नापसंद हैं फिर भी इस चिंता के मारे कि लड़कों का, पोतो का विरोध किया जाएगा तो ये लोग हमारी देख-भाल करना छोड़ देंगे तो मेरा निर्वाह कैसे होगा? ऐसा सोच करके विवेक-विरोधी बातों का भी समर्थन करते रहते हैं। यह क्या है? यह इस दशा का परिणाम है कि हमारी शक्ति तो चली गयी और संसार की आवश्यकता मुझमें से नहीं गयी।

शरीर असमर्थ हो गया और शरीर को सँभालकर रखने की जरूरत मेरी खत्म नहीं हुई। इसके लिए महाराज जी ने कहा कि धर्मात्मा होना सबके लिए अनिवार्य है। सबके प्रति सद्भाव और सबके प्रति सहयोग

देने की बात जिस जीवन में है उसका राग भी समाप्त हो जाता है और शरीर की, संसार की, अपने लिए जरूरत नहीं रह जाती है। इसी का नाम जीवन-मुक्ति है। अब जैसे विनोबा बाबा के लिए हम लोगों ने सुना ना! और दूसरे संतों के लिए भी सुना है।

अपने महाराज जी को देखा भी है। डॉ० लोगों से पूछ रहे हैं कि भैया बताओ तो कब तक इसको रखोगे? डॉ० लोग बेचारे क्या कहते? अचकचा जाते, कहते कि महाराज हम लोग बहुत दिन तक रखेंगे। तो हँस के कहते कि भाई तुम नहीं जानते हो। अब यह रखने के लायक नहीं है। रखने के लायक नहीं है तो आनन्दपूर्वक इसका त्याग कर दो। ऐसे ही विनोबा बाबा के लिए सुना गया कि भई दवा नहीं लिया गया, खुराक नहीं लिया, सब छोड़ दिया। डॉक्टरों ने, मित्रों ने सबने आग्रह किया तो कह दिया भाई अब यह रखने के लायक नहीं है। तो मुझे इसकी जरुरत नहीं है, समाज की सेवा के लिए इसको रखा जा रहा था, समाज की सेवा के लायक नहीं रहा तो छोड़ दो अब।

अब काहे को पकड़े रहो। तो अपने को जरूरत नहीं है तब हम उसको छोड़ने के लिए तैयार हैं? इतनी बात पूरी हो जाती है उनके जीवन में, जिनके जीवन में सबके प्रति सद्भाव और सहयोग देने की बात रहती है। मिलट्री डॉक्टर मुझे मिले थे राँची में, जान पहचान के व्यक्ति थे तो सुना रहे थे। कह रहे थे कि क्या बताऊँ मेरा हृदय काँप जाता है। युद्ध क्षेत्र से सिपाही आते हैं तो हाथ कट गए, पाँव कट गए, कुछ नहीं रहा खाली सिर से लेकर इतना माँस का लोथड़ा। और आए सबको रखना पड़ता है, सबकी सेवा करनी पड़ती है। कट कुट गया तो सब निकल ही गया लेकिन घाव ठीक हो जाए इसके लिए हम लोग उनके ड्रेसिंग भी करते हैं, इन्जैक्शन भी लगाते हैं, दवा भी देते हैं, सब किया जाता है, और

जल्दी से घाव भर जाए इसका इन्तजाम किया जाता है। दर्द पीड़ा से ये लोग मुक्त हो जाएँ। उनको पथ्य दिया जाता है। जिसमें मिर्चा भी

ज्यादा न हो, मिठाई भी ज्यादा न हो, ऐसा खाना दिया जाता है कि जिसको खाने से घाव भरने में मदद मिले। तो कहें कि बड़ा दुःख होता है, मुझे कि बिस्तर में पड़े हैं, टट्टी पेशाब सब बात के लिए पराधीन है। हाथ पाँव कट गए, किसी दिन चल नहीं सकेंगे, किसी दिन घूम नहीं सकेंगे, कुछ भी कर नहीं सकेंगे फिर भी उनको जीने का इतना शौक कि हर प्रकार से परेशान रहते कि कैसे जल्दी घाव भर जाए, कैसे जल्दी ठीक हो जाए। फिर भी वे शरीर से सुख भोगने के इतने गुलाम हैं कि स्वीपर से मँगा करके बाहर से मांस पकाया हुआ, खरीदवाकर मँगा लेते हैं और खा लेते हैं। और बना बनाया घाव फिर बिगड़ने लगता है, फिर सड़ने लगता है, तो डॉ० बेचारा बहुत हृदयशील आदमी था, उसके आँख में आँसू भर जाए और कहे कि हमारी समझ में नहीं आता है कि ये माँस के लोथड़े जीना क्यों चाहते हैं? यह भी कट गया है, यह भी कट गया है, अब कुछ है नहीं, चलना फिरना नहीं होगा, कमाना नहीं होगा, किसके काम आना नहीं होगा और हर बात के लिए दूसरों पर आश्रित रहना पड़ेगा तब भी शरीर चाहिए। क्यों चाहिए कि हाथ पाँव कट गये तो क्या हुआ? पराधीन हो गये तो क्या हुआ? कुछ देखने का सुख ले लेंगे कुछ खाने का सुख ले लेंगे। कितनी घोर पराधीनता है, समझो! ऐसी घोर दशा में भी शरीर को रखना पसंद आता है, इसी से मालूम होता है कि शरीर की कितनी दासता उनके भीतर अभी तक शेष रह गयी।

इस दासता को मिटाने का उपाय महाराज जी ने बताया कि भाई बुराई किसी के साथ करो मत और सबके प्रति सहयोग और सद्भाव रखो तो एक विलक्षण शक्ति पैदा होगी। वह विलक्षण शक्ति क्या है? कि बिना किसी ध्यान, धारणा, समाधि के और बिना किसी विशेष अभ्यास के आपके भीतर से ही एक बल अभिव्यक्त हो जाएगा कि जिसमें आपको अपने लिए शरीर और संसार की जरूरत नहीं रहेगी। कितना सामान्य

व्यवहार के स्तर का व्रत दिलाया महाराज जी ने और कैसे अलौकिक जीवन का दरवाजा जैसे खोल दिया। आप सोच करके देखिए ना, कितना आराम लगेगा। अपने को शरीर और संसार की जरूरत न रह गयी तो कितना आराम लगेगा, स्वाधीन हो जाएगा आदमी एकदम।

कोई जरुरत ही नहीं रह गयी। तो इतने में लोक-संग्रह, लोक-सेवा और जीवन-मुक्ति ये दो बातें तो इतने में सिद्ध हो गयी और तीसरी बात जो रह गयी स्वामी जी महाराज ने उसे एक विशेष रूप से एक स्वतन्त्र प्रणाली के रूप में हम लोगों के सामने रखा। यद्यपि विचार के आधार पर भी जब नाशवान से सम्बन्ध टूट जाता है, वृत्ति बाहर से सिमट कर अंतर्मुख हो जाती है, अपने उद्‌गम से जुट जाती है, तब भी जीवन में सत्यं, शिवं, सुन्दरम की अभिव्यक्ति हो जाती है। परमात्मा को मानकर चलो तो न मानकर चलो तो, साकार की उपासना करो तो, निराकार की उपासना करो तो उसमें कोई भेद नहीं है। चाहे परमात्मा को मानो चाहे न मानो केवल विवेक के प्रकाश में जो त्याज्य है उसका त्याग कर दिया और बाहर से सब वृत्तियों को समेटकर भीतर एक उद्‌गम में केन्द्रीभूत कर दिया, तो उस सत्य से जब जीवनी शक्ति जुट जाती है। तो उसमें भी नित्यता अभिव्यक्त हो जाती है, जिस जीवन में नाश नहीं होगा, मृत्यु नहीं होगी। सर्व दुःखों का अन्त हो जाता है।

आनन्दमय अस्तित्व अनुभव में आता है और उसमें प्रेमभाव की सरसता भी रहती है तो ऐसा विचारक जन की साधना का भी परिणाम होता है और अगर उस विचार के साथ-साथ विश्वास भी चल रहा है जैसा कि हम लोगों में से अधिकांश भाई-बहनों का जीवन है। विचार के आधार पर असत् के संग से छूटना यह तो अनिवार्य है ही है, उसके साथ आस्था, श्रद्धा, विश्वास का जो तत्त्व हमारे जीवन में है उससे भी काम लेने की बात स्वामी जी महाराज ने बतायी। और यह कहा कि पहले प्रभु की

सत्ता में विश्वास करो। साकार निराकार का भेद नहीं है। परमात्मा है तो है मानो। कैसा है? तो महाराज जी की परिभाषा बहुत बढ़िया है। वे कहते हैं जैसा तुमने सुना है, ऐसा भी है जैसा तुम पसंद करते हो ऐसा भी है, जितना-जितना दूसरे लोगों ने अनुभव किया है कहा है और ग्रन्थों में लिखा है, उतना भी है और सबसे विलक्षण भी है। ग्रन्थों में जितना लिखा गया है और जितने अनुभवी जनों में अपने अनुभव से जितना बताया है, जितना कहा गया, जितना सुना गया, जितना अनुभव किया गया, जितना ग्रन्थों में लिखा गया उतना भी है और उससे विलक्षण भी है।

बहुत अच्छी लगी बात मुझे इसलिए कि मान लीजिए परमात्मा के सम्बन्ध में आपका अनुभव कुछ ऐसा निकल आया जैसा कि कहीं भी किसी ने नहीं कहा हो, कही भी न लिखा हो, तो आप कहेंगे कि क्या जाने यह अनुभव ठीक है कि गलत है ऐसा कभी किसी ने कहा ही नहीं, कहीं लिखा ही नहीं। सो महाराज जी कहते हैं भाई! जब वे अनन्त गुणवान कहलाते हैं कि उनके गुणों की कोई सीमा ही नहीं है तो तुम सीमा में बाँधना क्यों पसंद करते हो।

यह कहना क्यों पसंद करते हो कि वे निराकार है यह कहना क्यों पसंद करते हो कि वे साकार हैं। यह क्यों पसंद करते हो कि वे निर्गुण निराकार हैं कि सगुण साकार हैं यह क्यों नहीं पसन्द करते हो कि मुझे जितना मालूम है और स्वभाव से मुझको जितना पसंद है, उतना भी है और उससे विलक्षण भी है। यह कहा उन्होंने। ऐसा मान करके अपने को जो पसंद आए साकार परमात्मा पसंद आए तो साकार सही और निराकार पसंद आए तो निराकार सही।

उसकी सत्ता को मान लिया जाए उसमें विश्वास किया जाए, उसकी महिमा को स्वीकार किया जाए तो आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक उनसे अपना सीधा सम्बन्ध स्वीकार करने मात्र से उनके स्वरूप की, उनकी

विभूतियों की अभिव्यक्ति मनुष्य के जीवन में होने लगती है। वही अपने को सरस बनाती है, उसी से जीवन में रस का संचार होता है। उस रस का संचार होता है कि जिसका कभी नाश नहीं होगा, जिससे कभी अरुचि नहीं होगी। उस रस का संचार इसमें होता है, और जीवन पूर्ण होता है। तो इसको महाराज सत्य की स्वीकृति कहते हैं। चूँकि अपने को यह बात पसंद है कि मुझसे सबल मेरे प्रति सद्भाव रखे और सहयोग दे इसलिए दूसरों के प्रति सद्भाव और सहयोग रखना यह धर्म है। इतने से ही धर्मात्मा हो गया और जो धर्मात्मा हो जाता है, उसमें जीवन-मुक्ति की सामर्थ्य आ जाती है। यह आध्यात्मिक विकास हो गया। और जो सचमुच किसी प्रकार की कोई कामना नहीं रखता वह प्रभु का प्यारा बनता है, प्रभु को प्रेम करने वाला होता है। यह आस्तिकता का विकास हो गया। तो एक ही मानव-जीवन में जो करने की शक्ति है वह धर्म के साथ जुट गयी तो हम धर्मात्मा हो गए। और जो विवेक की शक्ति है उसने मुझको असत् से छुड़ा दिया तो हम जीवन-मुक्त हो गए। और जो प्रेम करने का भाव है उससे हम प्रेमस्वरूप परमात्मा के साथ जुट गए तो जीवन सरस हो गया। आस्तिकता के पक्ष में उन्नति हो गयी।

इस तरह से सेवा त्याग और प्रेम एक ही व्यक्तित्व के तीन आलौकिक तत्त्व है, जिनका कभी नाश नहीं होगा। सेवा के सम्बन्ध में महाराज जी ने ऐसा बताया हैं कि क्रिया तो सेवा का बाहरी रूप है। वास्तविक रूप क्या है? कि जिसमें करुणा हो और जिसमें प्रसन्नता हो। तो सुखी को देखकर प्रसन्न होना, दुःखी को देखकर करुणित होना, ये सेवा का श्रोत है। उस दिन जब विमला बहन ठक्कर यहाँ आयी थी और स्वामी जी, महाराज के संस्मरण सुना रही थी, तो कह रही थी कि सर्वोदय का अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ था, स्वामी जी महाराज को सर्वोदय के नेताओं ने प्रेसीडेन्ट करके बुलाया था। प्रेसाइड करने गए थे महाराज।

वहाँ जब बातचीत होने लगी—सेवा, सेवा, सेवा। सर्वोदय में तो सेवा ही खास बात है। होने लगी तो लोगों ने स्वामी जी के सामने बातचीत की तो महाराज जी ने पूछा कि भाई सेवा का श्रोत कहाँ है? जो कुछ आप लोग कर रहे हैं सर्वोदय के माध्यम से सेवा का उसका श्रोत कहाँ है? सब लोग सोचने लगे किसी ने गाँधी जी को बताया, किसी ने जयप्रकाश जी को बताया कि इसी में से यह आया है तो महाराज जी ने बताया नहीं भाई सेवा का श्रोत तो करुणा में है, जिस हृदय में परपीड़ा से करुणा उमड़ती है उसी के द्वारा सेवा बनती है। तो यह करुणा जो है वह प्रभु प्रेम के समान ही अलौकिक तत्त्व है, जिसका कि नाश नहीं होता। तो मनुष्य के व्यक्तित्व में जहाँ स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों के रूप में नाशवान् संसार का भी एक पक्ष जुटा हुआ है, उसी जगह हमारे आपके व्यक्तित्व में विवेक के प्रकाश और प्रेम के भाव के रूप में अविनाशी तत्त्व भी मिला हुआ है।

आज ही अपने को देखा जाए जिस दशा में हम लोग बैठे हैं सत्य की चर्चा करने इसी दशा में आप सोच करके मुझको बताइए कि जीवन तत्त्व अपने में विद्यमान है कि नहीं है? है ना? वह तो शरीर का हिस्सा नहीं है। और शरीर के नहीं रहने पर भी वह रहेगा इस तरह से अविनाशी परमात्मा अभी इसी क्षण में हम लोगों के साथ विद्यमान है ऐसा कहना चाहिए। जी? ठीक है ना? अच्छा अब उसी तरह से दूसरी बात को लीजिये, यह सत्यं हो गया।

अब दूसरी बात देखिये, विवेक का प्रकाश। इसी समय जबकि विवेक-विरोधी सम्बन्धों को लेकर हम लोग संयोग के सुख और वियोग के घोर दुःख में पड़े हुए हैं। जिस समय हम सभी भाई-बहन संयोग के सुख और वियोग के दुःख में पड़े हुए हैं? उस समय भी विवेक का प्रकाश अपने साथ है कि नहीं है? संयोग का सुख क्षणिक है, नाशवान है, आज

दिखाई दे रहा है, कल मिट सकता है, इस बात को हम विवेक के प्रकाश में देखते हैं कि नहीं? देखते हैं। वियोग का घोर अथाह दु:ख अपने पर आ गया उसमें भी नाशवान् के नाश हो जाने के बाद वियोग के ताप में तपते रहना निरर्थक है। गया हुआ लौट करके आ नहीं सकता है, बिगड़ा हुआ संयोग फिर बन नहीं सकता। इस बात की जानकारी अपने को है कि नहीं?

तो इसी समय जिस समय, हम विवेक के अनादर से संयोग-जनित सुख और वियोग-जनित दु:ख में पड़े हुए हैं फिर भी विवेक का प्रकाश जो अलौकिक तत्त्व है, उसका नाश मेरे भीतर से नहीं हुआ है। स्वयं अपने को गलत काम के साथ जुटा हुआ देखकर हम लोग अपने को क्षमा कर देते हैं। क्या करें भाई परिस्थिति ऐसी बन गयी, क्या करें हमारे से सँभाल में नहीं आया, हमने ऐसे कर दिया, हमने ऐसे कर लिया। अपने को हम लोग क्षमा कर देते हैं। मालूम तो होता ही है कि ऐसा मुझको नहीं करने चाहिए था, मालूम होता है, विवेक के प्रकाश में दिखाई देता है, फिर भी क्षमा कर देते हैं और कभी-कभी नहीं भी दिखता है। ऐसा भी होता है कि व्यक्तित्व का मोह इतना जोरदार होता है, मेरे मुँह से जो बात निकल गयी उसको तो सत्य प्रमाणित होना ही चाहिए।

इस आग्रह के कारण कभी-कभी अपनी भूल अपने को नहीं भी दिखती है। लेकिन उसी किस्म की भूल अगर कोई दूसरा करे तो दिखता है कि नहीं? जी! दिखता है। इसका मतलब यह है कि ज्ञान के प्रकाश स्वरूप परमात्मा अभी भी इस क्षण में भी हम लोगों के साथ विद्यमान है। ज्ञान जिनका स्वरूप है, ज्ञान का अनन्त प्रकाश जिनका स्वरूप है, वह परमात्मा ज्ञान के रूप में, विवेक के प्रकाश के रूप में इस क्षण में भी हमारे भीतर विद्यमान है। उसी में तो दिख रहा है कि कहाँ क्या हो रहा है।

ठीक है? और ऐसे ही प्रेम का रस भी है। भई जीवन अपने आप में सरस लगता है, जब हम रस की हानि करने वाले, रस को मिटाने वाले व्यवहार में, सम्बन्ध में, विश्वास में फँस जाते हैं तो रस घट जाता है लेकिन प्रेम-भाव से शून्य किसी मनुष्य का जीवन हो ऐसा आपने कहीं नहीं पाया।

कहीं नहीं होता है। महाराज जी कहते कि भई देखो चोर-डकैत जो होते हैं, उनका भी सब अपना नियम कायदा होता है, दूसरों के लिए जो बड़े खूँखार होते हैं, वे भी अपने बाल बच्चों के लिए, अपने परिवार के लिए, अपनी मण्डली के लिए बहुत कोमल होते हैं। एक कैदी के सम्बन्ध में महाराज जी बता रहे थे, कि फाँसी की सजा हो गयी थी और जिले के आर्डर से उस कैदी को ले जाना था फाँसी देने की जगह पर तो सिपाही आया उसके दोनों हाथ पकड़ करके खूब कस के बाँध दिया कि ले चलेंगे जब कसके उसको बाँधा तो दर्द होने लगा हाथ में और वह जान रहा है, अब मुझको ले जाया जा रहा है। अब गला कटेगा फिर भी जब कसके बाँधा गया उसके हाथ को सिपाहियों ने लापरवाही की कि अब क्या अब तो इनको काटना ही है कौन बड़ी बात है। तो कसके बाँधने से जब हाथ में कलाई में दर्द होने लगा, तो आँखों में आँसू भरके कहता है सिपाही से, कि भैया मैंने तुम्हारा तो कुछ नहीं बिगाड़ा इतना कसके क्यों बाँधते हो? क्या मतलब है? उसको मालूम तो था न कि मैंने दूसरों की हत्या की है और मुझको फाँसी देने के लिए ले जा रहे हैं। गला कट ही जाना है तो देर में कसके बाँधा तो या ढीला बाँधा तो इससे क्या मतलब? फिर भी अपने प्रति उसके भीतर कितनी कोमल भावना है। प्रार्थना करके सिपाही से कहने लगा कि भैया मैंने तुम्हारा तो कुछ नहीं बिगाड़ा। तुम इतना कसके क्यों बाँधते हो? तो इस प्रकार की जो एक कोमल भावना है, इस प्रकार का जो एक-दूसरे के साथ प्रेम के आदान-प्रदान की आशा है वह

किसी भी काल में किसी के भीतर से नष्ट नहीं होती है। परमात्मा ही प्रेम-स्वरूप है। उसी का दिया हुआ प्रेम हम लोगों ने माता-पिता से पाया, गुरुजनों से पाया, पशु-पक्षियों से पाया, वनस्पति से पाया, प्रकृति से पाया, सब तरफ से सहयोग, सद्भाव और प्रेम का व्यवहार एक समूह में रहने पर अपने को मिलता है।

तो उसका सोर्स (source) कहाँ है? ध्यान दिया कभी? उसका उद्गम कहाँ है? कभी ध्यान में आया? सोचो तो पता चलेगा। यह सब मिठास जो हम लोग एक-दूसरे के साथ ट्रेन के कम्पार्टमेन्ट में बैठ करके, यात्री होकर के, प्लेटफार्म पर बैठ करके जहाँ भी परिचित, अपरिचत लोगों के साथ भी काम पड़ता है, रहना पड़ता है, उठना-बैठना पड़ता है, मिलना-जुलना पड़ता है तो जहाँ भी कहीं आपने सहयोग और सद्भाव देखा होगा। मधुर व्यवहार देखा होगा, सहानुभूति पायी होगी तो उस सबका आधार कहाँ है? वह प्रभु है। तो प्रेम स्वरूप परमात्मा हमारे भीतर सदैव विद्यमान है और उनकी विद्यमानता का प्रमाण हैं ये तीनों। हम अपने जीवन के अस्तित्व को अनुभव कर रहे हैं कि मैं जीवित हूँ, मैं हूँ। तो ये भी उनके अस्तित्व का ही प्रभाव है। और विवेक के प्रकाश को ही हम अनुभव कर रहे हैं कि बहुत सामान्य भाव से भले-बुरे का ज्ञान अपने को सब समय से होता रहता है।

यह प्रकाशस्वरूप परमात्मा का ही प्रकाश है और दूसरों के लिए स्वयं मधुर बनना और दूसरों से मधुर व्यवहार की आशा करना और दूसरों के किए हुए मधुर व्यवहार को मधुरता के रूप में अपने भीतर अनुभव करना बड़ा मीठा लगता है। कोई मेरे प्रति स्नेह-सहानुभूति रखने वाला हो अब कुछ बोले अथवा न बोले, कुछ करे अथवा न करे लेकिन उसके भीतर मेरे लिए स्नेह है, सहानुभूति है, इतनी ही बात आपको अच्छी लगती है कि नहीं? लगती है। ये सब बातें उस परमात्मा में से ही हैं और इन

तत्त्वों का कभी नाश नहीं होता। आज अनेक प्रकार के विकारों से घिरे हुए, हम सब लोग इस धरती पर बैठे हैं तब भी अपने को कभी भी परमात्मा की उपस्थिति से वंचित नहीं मानना चाहिए। ठीक है! तो सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हो जाए, विवेक का प्रकाश बढ़ जाए और प्रेम का रस इतना बढ़ जाए कि जन्म-जन्मान्तर का सब विकार उसमें घुल जाए, हम शुद्ध होकर, पवित्र होकर, प्रेम स्वरूप होकर परमात्मा से अभिन्न हो जाएँ। यही हमारे जीवन का प्रोग्राम है और इसी दिशा में हम सब भाई-बहनों को सचेष्ट रहना है।

●

प्रवचन 5

पूज्य संत महानुभाव सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो

भौतिकवाद की दृष्टि से जगत् के साथ व्यवहार करने में हमारा साधन रूप सूत्र क्या है? कि सेवा करने के लिए सभी अपने हैं। सेवा भावी साधक के भीतर किसी प्रकार का भेदभाव न हो। सेवा करने के लिए सभी अपने हैं। और अध्यात्म जीवन में प्रवेश पाने के लिए, देहातीत, अविनाशी अस्तित्व से अभिन्न होने के लिए, अपना कोई नहीं है, अर्थात् किसी से अपना कोई सम्बन्ध नहीं है। सिद्धिकाल में तो यह हो जाता है कि एक के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। लेकिन साधन-काल में जब कि शरीरों से तादात्म्य रहने के कारण विविध शरीरों की प्रतीति हो रही है, अलग-अलग मूर्तियाँ दिखायी दे रही हैं। उस समय अध्यात्म-दर्शन का सत्य जिसका अनुसरण हमें करना है उसके लिए साधन सूत्र क्या है? कि भई सुख लेने के लिए किसी को अपना मत मानो, सेवा देने के लिए सभी को अपना मानो। तो व्यक्तित्व में जो क्रियाशक्ति है, उसका पूरा उपयोग हो जाएगा भौतिक जगत् के साथ और अपने में जो विचार की शक्ति है, जिसके आधार पर हम सत्-असत् का विचार किया करते हैं। सही और गलत का निर्णय लिया करते हैं, क्या रहने वाला है, क्या मिटने वाला है, इन बातों पर विवेचन किया करते हैं। उस विचार-शक्ति का सबसे बढ़िया उपयोग यह है कि स्वयं के अतिरिक्त किसी अन्य से किसी प्रकार के सुख की आशा न की जाए।

तो ऐसा नहीं है कि आप निकटवर्ती जन समुदाय से सुख की आशा नहीं करेंगे, तो आपके पास जो एक शरीर है वह नाश हो जाएगा। ऐसा नहीं होगा। आप आशा नहीं करेंगे, आप अधिकार नहीं मानेंगे, आप उसको सँभालकर रखने के लिए अनर्थकारी कार्य में शामिल नहीं होंगे, तो सचमुच

यह शरीर जिसकी सम्पत्ति है, उसकी ओर से इसकी बहुत अच्छी देखभाल होगी। भौतिकवाद की दृष्टि से शरीर जगत् का है, ठीक है। अध्यात्मवाद की दृष्टि से एक के अतिरिक्त ओर कुछ है ही नहीं। और ईश्वरवाद की दृष्टि से सब शरीर उस परमात्मा के हैं। तो आपकी गाँठ में कुछ है क्या? है तो नहीं, लेकिन जबरदस्ती हम लोग मानते हैं।

तो महाराज जी कभी-कभी कहते देवकी जी, अपनी चीज न हो, पराये माल पर अधिकार जमाओ, तो पुलिस के द्वारा पकड़े जाओगे कि नहीं? जेल में जाना पड़ेगा कि नहीं? तो वह हो गया है हमारे साथ। अगर भौतिकवाद की दृष्टि से विचार करो तो पंचभौतिक तत्त्वों से बने हुए सारे शरीर, एक की तो कौन कहे प्रकृति के हैं। अपना उसमें से कुछ नहीं है। सूर्य के द्वारा प्रकाश और ताप मिले, प्राण वायु के द्वारा साँस लेने को मिले, धरती के ऊपर आश्रय मिले, आकाश के नीचे अवकाश मिले। जिसके बल पर यह शरीर चलता है, निभता है, रहता है, बनता है, घटता है, बिगड़ता है और जिसके विधान से अलग-अलग तत्त्व सब अलग-अलग तत्त्वों में जाकर शामिल होकर कर खत्म हो जाते हैं। तो जिस प्रकृति के विधान से अणु-परमाणुओं के संगठन से शरीरों की रचना हो गयी है, उसी प्रकृति के विधान से अणु-परमाणुओं का विघटन हो जाता है और शरीर लुप्त हो जाता है, अदृश्य हो जाता है। तो नाश क्या हुआ? बहुत से तत्त्व जुट गए तो एक आकृति बन गयी और अलग तत्त्व बिखर गए तो आकृति लुप्त हो गयी। तो नाश क्या हुआ? कुछ नहीं और बना क्या? कुछ नहीं। अलग-अलग अणु-परमाणुओं को जुटा दो तो एक आकृति बन गयी और वे बिखर गए तो आकृति खत्म हो गयी। न कुछ बना न कुछ बिगड़ा। तो ऐसे भौतिकवाद की दृष्टि से शरीर जगत् का है। अब जगत् का है, जगत् का न मानो, अपना मानो उसके ठेकेदार बनो तो तुम्हारे सिर पर उसकी रक्षा का, उसके भरण-पोषण का भार चढ़ जाए।

बन गया, बिगड़ गया, बदल गया, कोई नयी बात नहीं हो गयी। प्रकृति में अनवरत निर्माण और विनाश का क्रम चल रहा है। अब उसमें तुम मोह कर लो, आसक्ति कर लो, बनने-बिगड़ने का जो अनवरत क्रम है, जिसका नाम सृष्टि है, उसके विधान में दखल डालना चाहो तो मृत्यु के भय से भयभीत रहो, यम-यातना से पीड़ित रहो। कैदी होना हो गया कि नहीं?

जीना चाहते हैं। और जीने के लिए अब प्राण-शक्ति है नहीं, तो जीना चाहते हैं और मरना पड़ रहा है। शरीर जब अत्यन्त कष्टदायक हो गया तो मरना चाह रहे हैं और श्वांस चल रही हैं। बेबसी है कि स्वाधीनता है? कैदी होना हो गया। पराये माल पर अधिकार जमाओ, मेरा है मेरा है, तो कैद में कैदी होना पड़ेगा, दण्ड सहना पड़ेगा। विकारों की उत्पत्ति होगी उसके भार से पीड़ित होना पड़ेगा। इसीलिए शरीरों के रहते-रहते उनके साथ हो करके राग-निवृत्ति के साधन का जो अवसर मिला है हम लोगों की उन शरीरों के निर्वाह के लिए शुद्ध भौतिकवादी हम सभी भाई-बहनों को होना चाहिए। इस अर्थ में कि जैसे मुझको एक शरीर की रक्षा अभीष्ट है ऐसे ही प्रकृति को सारे शरीरों का भरण, पोषण, पालन, रक्षण अभीष्ट है। मानना चाहिए ऐसा। और ऐसा मान करके जो सेवा करने के लिए सभी को अपना मानते हैं उन पर एक शरीर के भरण-पोषण का भार नहीं रहता है।

उसकी देखभाल वे करने लग जाते हैं जिनकी वह है। और तत्त्व की दृष्टि से अध्यात्म-जीवन में प्रवेश पाने के लिए जब आप इस साधन सूत्र को स्वीकार करेंगे कि भाई मैंने शरीरों की सहायता से जगत् के सम्पर्क का सुख लिया था तो मेरे भीतर आसक्ति पैदा हो गयी थी। प्रकृति के विधान से प्रकृतिपति के विधान से, सृष्टिकर्त्ता जीवनदाता के विधान से एक चांस और दिया गया कि अच्छा अब तक मानव-जीवन पाकर के भी

जीवन-मुक्ति का पुरुषार्थ तुमने नहीं किया था तो कोई बात नहीं, माफ किया गया। अब तक अवसर और ले लो और देखो अबकी बार जो शारीरिक सामर्थ्य लेकर के जगत् में रहने का मौका मिले तो नयी-नयी आसक्ति पैदा मत करना, पुराने रागों को मिटाने का पुरुषार्थ कर लेना।

इस विधान से हम लोगों को एक चांस और मिला है। तो अब क्या करें? तो शुद्ध विचार की दृष्टि से निज विवेक का आदर करते हुए इस सत्य को स्वीकार करें कि मिला हुआ शरीर जो है, वह मेरा नहीं है, वह मेरे साथ सदा के लिए रहने वाला नहीं है और मेरी आवश्यकता को पूरी करने वाला भी नहीं है।क्योंकि आपकी आवश्यकता क्या है? तो आपका जो मैं-पन है अलौकिक तत्त्वों से रचना हुआ 'मै-पन' अविनाशी जीवन की अभिलाषा वाला मैं, परम प्रेम की मधुरता का आस्वादन करने के लिए लालायित है जो 'मैं' उस 'मैं' की आवश्यकता स्थूल तत्त्वों से रचे हुए शरीर पूरी करने में कोई मदद नहीं कर सकते आज तक मदद नहीं किया इन्होंने।

मैंने एक बार रासलीला में कंस की सभा देखी थी। तो अहम् का बड़ा भारी अभिमानी, उसको प्रतीक रूप में भी ले सकते हैं और कथा में तो विश्वास चलता ही है। विश्वासी होकर मैं देखती हूँ तो विश्वास भी लेती हूँ। बड़ा भारी अहंकारी, सामर्थ्य का जो अनन्त श्रोत है उसी का दिया हुआ बल लेकर अहंकार बड़ा पुष्ट हो गया। मैं बड़ा बलिष्ठ। तो सभा में बड़ी गर्जना हो रही है किस बल पर? अनन्त बलशाली के दिए हुए आंशिक बल पर। अनन्त बलशाली ने आंशिक बल दे दिया तो उसी के बल पर अहंकार का बड़ा भारी गर्जन हो रहा है। अभ्यर्थना हो रही है, भयभीत सभा स्तुति कर रही है, सब हो रहा है। इतनी देर में, समाचार

आया कि पूतना मारी गयी। तो बड़ा भारी बल, शरीर का बड़ा भारी बल, लेकिन जैसे ही समाचार मिला कि पूतना मारी गयी तो वह अहंकार जो था, वह एकदम काँप गया तो कंस जिस सिंहासन पर बैठे थे, वह उठ करके खड़े हो गए, घबरा गए, हाथ मुँह घबरा कर फैलाया और अस्त्र, शस्त्र सब नीचे गिर गए और पूरा शरीर थर-थर काँपने लगा। किससे ! इस भय से कि कौन-सा ऐसा बालक हो सकता हैं छः दिन का जन्मा हुआ जो कि इसको मार सकता हैं। तो क्या कहा तुमने ? क्या समाचार सुनाया तुमने ? क्या सचमुच किसी बालक ने पूतना को मारा ? हाँ मारा। तो इस समाचार को सुन करके सब वैभव खत्म हो गया, किसी ने उसका साथ नहीं दिया और मृत्यु के भय से वह काँपने लगा एकदम कि कौन हो सकता है जो इतनी छोटी उम्र में पूतना को मार सकता है। क्या जाने आगे चल करके वह मुझे भी न मार डाले। तो मृत्यु का भय और मृत्यु-रहित जीवन की आवश्यकता शरीर के बल ने पूरी नहीं की। बलशाली दरबारियों ने पूरी नहीं की, बहुत ही बलिष्ठ और जोरदार सेना की शक्ति से भी यह भय नहीं मिटा। ठीक है।

इसलिए वह तो एक कथा है, वह अपने लोगों को उदाहरण के लिए सामने रखकर सोचना चाहिए कि अभी तक आपने जो कुछ बल का सम्पादन किया, इस जगत् में रहकर अभी इसी क्षण में इसी स्पॉट पर बैठ करके एक क्षण के लिए भीतर झाँक कर देखो तो किसी भी बल के द्वारा अविनाशी जीवन की आवश्यकता पूरी हुई क्या ? किसी भी संगी साथी, बुद्धिमानी और योग्यता के द्वारा मृत्यु के भय का नाश हो गया क्या ? नहीं हुआ ना ? देखिये कुछ दिन पहले "अपोलो इलेवन" आपने नाम सुना होगा यान बना था, चन्द्रलोक की यात्रा हुई थी, तो चन्द्रलोक के यात्री जो थे, वे जब लौट करके आ गए, उस पर सारा फिल्म बनाया गया और वे डॉक्यूमेन्ट्री फिल्म्स जो चलते हैं। अच्छी-अच्छी बातों का प्रदर्शन

विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय में, विद्यार्थियों के सामने कराया जाता है। तो विदेश से एक टीम आयी थी, पाँच, सात लोगों की और विविध प्रकार के फिल्म्स वे लोग लाये थे, महाविद्यालय में दिखा रहे थे, हमारे यहाँ भी आये थे।

वह भी दिखलाया गया था, तो उसमें सब कुछ देखने के बाद चन्द्रलोक के यात्री जब धरती पर आ गए थे, फिल्म सारा तैयार हो गया था, दिखाने के लिए जा रहा था तो उनकी थोड़ी बातचीत हुई थी तो उनसे बातचीत की गयी, और वह भी रिकार्डेड था, वह भी हम लोगों ने देखा और सुना, बातचीत करने का। तो उनसे पूछा गया जब आप वहाँ पर पहुँच गए चन्द्रलोक पर तो आपको कैसा लगा? तो उसमें एक सज्जन जो बातचीत कर रहे थे, वे कहने लगे कि जब हम वहाँ पहुँच गये तो पहले तो उस चन्द्रलोक में शरीर को सँभालने के लिए, धरती का जो आकर्षण है और यहाँ का जो इन्तजाम है वह था नहीं तो उसके ऊपर हम सीधे खड़े नहीं हो सकते थे, जमीन पर खूँटी गाड़ी गयी थी, उसको पकड़ पकड़ करके किसी तरह से हम लोगों से सबने अपना-अपना बैलेन्स सँभाला।

बड़ी तेज हवा थी, सब कुछ उड़ा जा रहा था, तो पेट के बल सट करके, खूँटा पकड़ करके अपने को सँभाला। सँभाल लिया। जब होश सँभाला और समझ में आया कि हम चन्द्रलोक पर पहुँच गए हैं और अब हम स्थिर हो गए हैं, अब देख सकते हैं, अब अध्ययन कर सकते हैं तो वे सज्जन कहने लगे कि मेरी आँखों के आगे धरती पर से विदा करने वाली मंडली दिखाई देने लगी। हम लोगों की चारों पाँचों की स्त्रियाँ और बच्चे किस प्रकार से हर्ष पूर्वक हाथ हिलाते हम लोगों को विदा कर रहे थे। वह सब हम लोगों को दिखने लगा और मैं सोचने लगा कि यह जो मेरा एयरक्राफ्ट है, यह लौट करके अपनी मशीन से जुटा नहीं तो हम धरती पर उतर नहीं पाएँगे। हिसाब तो उन लोगों ने बहुत अच्छा किया

था, कैलकुलेशन उन लोगों का बड़ा पक्का था। और जिस मशीन में से मदर क्राफ्ट उतर करके आया, उसको बता रहे थे, कि उसके द्वारा ऊपर चढ़े।

फिर उसको छोड़ते चन्द्रलोक पर उतरे तो उसकी सैटिंग ऐसी थी कि वह घूम रही थी, घूम रही थी, घूम रही थी और हिसाब ऐसा किया हुआ था कि इतनी तारीख को इतने बजे हम लोग चन्द्रलोक को छोड़ करके आएँगे तो ये घूमती हुई मशीन हमें पकड़ लेगी और हमें धरती पर ले आएगी। तो वे सज्जन कहने लगे कि एक बार मेरे भीतर ख्याल आया कि हम यहाँ से उतरे और हिसाब में थोड़ा सा भी फ्रैक्शन ऑफ सम सेकण्ड कुछ क्षणों के कुछ अंश का भी फर्क पड़ गया तो वह मदर क्राफ्ट पास कर जाएगी हम उससे जुट नहीं पाएँगे तो यों ही घूमते-घूमते आकाश में खत्म हो जाएँगे।

हाय हमारी स्त्रियाँ हमारे बच्चे प्रतीक्षा करते रहेंगे हम नीचे उतर नहीं पाएँगे। तो उस सज्जन ने बताया कि जैसे ही ध्यान में आया मैं एकदम मृत्यु के भय से भयभीत हो गया। तो सुना मैंने बड़ा आनन्द आया था, पूरा सब कुछ देखा हम लोगों ने धरती पर से वह क्राफ्ट कैसे उड़ा है, कैसे अन्तरिक्ष में गया, कैसे उसने मदरक्राफ्ट को छोड़ा फिर वह चन्द्रलोक पर उतरा कैसे वे लोग हवा में डोलते-डोलते खूँटी पकड़ेंगे सब मैंने देखा था, उसी फिल्म में। जब वह सज्जन कहने लगा कि मैं तो एकदम भयभीत हो गया और मुझे अपनी स्त्री और अपने बच्चों का मुखड़ा दिखाई देने लगा। भीतर-भीतर एकदम से घबरा गया मैं कि हाय हम उतर नहीं सके धरती पर तो हमारी स्त्री हमारे बच्चे हमारी प्रतीक्षा में रह जाएँगे और उनको हमारी मृत्यु का संवाद सुनना पड़ेगा और बड़ा दुःख होगा तो एकदम मृत्यु के भय से आक्रान्त और कुटुम्ब की आसक्ति से आक्रान्त और चन्द्रलोक पर पहुँच जाने का सारा हर्ष समाप्त हो गया। वह तो फिल्म था

दिखा-दिखा कर लोग चले गए। मैं बहुत देर तक सोचती रही। मैंने कहा हाय रे मनुष्य तूने क्या किया?

करोड़ों-करोड़ों की सम्पत्ति बहाई गयी संसार की और तीस-तीस वर्षों से बड़े-बड़े प्रतिभाशाली वैज्ञानिक परिश्रम करते-करते क्राफ्ट बनाया और बड़ी बहादुरी के साथ जय-जयकार करके संसार ने तुमको विदा किया बड़े शान से तुम चन्द्रलोक के यात्री बने और वहाँ पहुँचकर मृत्यु का भय? और वहाँ पहुँचकर कुटुम्ब की आसक्ति। सारा परिश्रम, सारी योग्यता, सारा खर्च मिट्टी में मिल गया कि नहीं? उससे ज्यादा सामर्थ्य कोई अपने लोगों के पास है? जी? किसके बल पर पंचभौतिक तत्त्वों के बने हुए शरीर को लेकर अभिमान में फिरते हो भाई? उतनी बड़ी योग्यता, उतनी बड़ी शक्ति, उतनी सम्पत्ति और उतनी प्रतिभा और सबकी उपलब्धि क्या हुई? मृत्यु का भय? यह सब बातें जो हम लोगों के सामने आ रही हैं। तो विवेकशील होने का अर्थ क्या है? विवेकशील होने का अर्थ यह है कि इन घटनाओं से हम सीखें।

राजकुमार सिद्धार्थ के सामने और क्या हुआ था? एक मृतक को देखा, तो उस जाग्रत पुरुष ने यह जान लिया कि जैसे एक शरीर मृत्यु का ग्रास बन गया है, वैसे सभी शरीर मृत्यु के ग्रास बनेंगे? एक ही घटना ना उसने देखी थी? और तो घटना देखी नहीं थी। एक ही वृद्ध शरीर को उसने देखा तो उसने अपनी युवावस्था में वृद्धावस्था का दर्शन कर लिया। एक मृतक को देखा, एक वृद्ध को देखा, एक रोगी को देखा और एक ही एक घटना का प्रभाव उस पर इतना ज़ोरदार हुआ कि उस वीर पुरुष ने 'हे क्षणभंगुर भव राम-राम' कहकर संसार से विदा लिया फिर उलटकर उस संसार की ओर देखा नहीं।

"मैं त्रिविध दु:ख-निवृत्ति हेतु, बाँधूँ अपना पुरुषार्थ सेतु, सर्वत्र उठे कल्याण केतु, तब हो मेरा सिद्धार्थ नाम, हे क्षण भंगुर भव राम-राम।" हो गया। और अपने लोगों की दशा क्या है? ऐसी हँसी आती है कभी-कभी मुझे और इतनी दया आती है अपने पर, हाय बेचारा गरीब आदमी कहाँ जाकर फँस गया। क्या कहते हैं लोग सुनते तो हैं, और इन्डायरैक्टली सत्संग की मण्डली पर थोड़ा कटाक्ष भी है, चूँकि अपने उसी में शामिल है इसलिए थोड़ा नरम भाषा बोलते हैं—तो कहते हैं कि क्या बताएँ इतना प्रचार है, इतना सब प्रवचन चल रहा है और इतनी बड़ी-बड़ी मण्डलियाँ बनी हुई हैं और क्षमा कीजिएगा आप लोगों ने भी कम परिश्रम नहीं किया है, कहते भी जाते हैं, क्षमा भी माँगते जाते हैं।

तो ये सब हो रहा है, लेकिन समाज की दशा जो है, वह तो ऐसी ही दिख रही है। पहले समूह को दोषी बनाके तब उसमें अपनी गुंजाइश निकालते हैं कि क्या करें हमारे में भी परिवर्तन नहीं आया, मतलब मैं कोई दोषी नहीं हूँ। सब लोगों का ऐसा ही हाल है, तो हम अपने को भी क्षमा करते देते हैं कि मेरा भी वह ही हाल है। अब बताओ? विवेक के प्रकाश में देख करके कि भई जो कुछ बना हुआ है निरन्तर बदल रहा है, बिगड़ रहा है, मिट रहा है और वे जो अपने को बड़ा वैज्ञानिक मानते होंगे और सोचते होंगे कि मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ। उन लोगों को जो सच्चे विज्ञानवेत्ता है, उनका हाल मालूम नहीं है। और नहीं तो बहुत दिन पहले की बात है 1963 में अखिल विश्व का जो वैज्ञानिक सम्मेलन हुआ था, उस वैज्ञानिक सम्मेलन में किसी विज्ञानवेत्ता ने अपने अध्ययन का फल बताया तो उसने बताया "ट्रुथ काँट-बी फाउन्ड बाई ओबजेक्ट एनालिसज" अणु-परमाणुओं के विश्लेषण से सत्य नहीं पाया जा सकता। तो कैसे होता है भाई? तो अणु-परमाणुओं के संगठन से बने हुए शरीर को प्रयोगशाला में ले जाकर काटकूट कर दो, तो मिलेगा? नहीं मिलेगा।

अनुभवी संत में बहुत ही प्रेक्टीकल प्रयोग हम लोगों को बताया कि भाई यह जिसकी चीज है, उसके लिए रहने दो। तुम तो अपने पर इतना ही उपकार करो कि पराई चीज को अपनी मत मान लेना। इतने ही उपकार से तुम्हारा कल्याण हो जाएगा।

भौतिकवादी हो तो विश्वजीवन में मिला दो इसको और ईश्वरवादी हो तो परमात्मा का मान लो इसको और अध्यात्मवादी हो तो तुम्हारा तो त्रिकाल में इससे सम्बन्ध है ही नहीं। दार्शनिक दृष्टिकोण, भौतिक पहलू ले लें, अध्यात्म-जीवन ले लें, आस्तिक जीवन ले लें, कोई भी अन्तर नहीं आता है। जो जीवन का सत्य है, जो दार्शनिक स्टैण्ड है, वहाँ से खड़े होकर के जीवन को देखेंगे नहीं और जगत् के साथ जो करना चाहिए वह जगत के साथ न करो, शरीर के साथ जो सही दृष्टिकोण रखना चाहिये वह दृष्टिकोण न रखो। और परमात्मा के मानने वाले हो तो परमात्मा के प्रति जो भाव रखना चाहिये वह भाव न रखो। तो कोई ऐसा जादू मन्तर है कि तुम्हारा दुःख मिट जाएगा? जी? क्रिया-शक्ति मिली है, शुद्ध भौतिक वाद की दृष्टि से सेवा करने के लिए। सभी को अपना मानो, भेदभाव नाश हो जाएगा तो चित्त शुद्ध हो जाएगा। विचार की दृष्टि मिली है, विवेक का प्रकाश मिला है तो नाशवान् को नाशवान् जानकर। यहाँ मानने की बात नहीं है, कल्पना और अनुमान की बात नहीं है। देखते-देखते सँभालते-सँभालते सिर के काले बाल सफेद होते चले जा रहे हैं। बहुत ही नेचुरल प्रोसेस में। तो मानना पड़ेगा कि जानी हुई बात है। जी! जानी हुई बात है। तो निज विवेक के प्रकाश में नाशवान् को नाशवान् जानकर उससे अपना सम्बन्ध तोड़ना ही पड़ेगा। उस पर से अपना अधिकार उठाना ही पड़ेगा। उसकी ममता का त्याग करना ही पड़ेगा और उसका सहारा छोड़ना ही पड़ेगा। तो जो नाशवान् का सहारा छोड़ देता है, उसमें अविनाशी तत्त्व अभिव्यक्त हो जाता है। अमर जीवन का अभिलाषी, नाशवान का

सहारा छोड़ देता है तो उसी में विद्यमान अविनाशी तत्त्व प्रकट हो जाता है। जो अनादि, अनन्त जीवन का जिज्ञासु है वह उत्पत्ति-विनाश युक्त का सहारा छोड़ देता है। संसार को छोड़कर भाग जाओ ऐसा नहीं कहा गया। सम्पत्ति उठा कर गंगा में डाल दो, ऐसा नहीं कहा। शरीर को टुकड़े-टुकड़े काट दो ऐसा नहीं कहा। इसमें तुम्हारा कोई वश नहीं चलेगा इसकी कोई जरुरत नहीं है। ये जिसके हैं, उसकी शक्ति से जिसके हैं, उसके विधान से कुशलता पूर्वक चल रहे हैं, चलते रहेंगें। तुम नहीं थे तब भी सृष्टि चल रही थी और फिर तुम नहीं रहोगे तब भी चलेगी, कि नहीं चलेगी? चलेगी?

इसलिए उसमें अपने को हस्तक्षेप करने की ज़रूरत नहीं है। जिस अपराध से हम सब लोग आसक्ति में, जन्म-मरण के बन्धन में, जिस सीमा में बँध गए है, कैदी हो गए है, उस कारण को मिटाना है। वह कारण क्या है? मैं अविनाशी जीवन का अभिलाषी हूँ, अमर जीवन की आवश्यकता मुझे है, परम प्रेम की प्यास मुझे है, तो जो अमर जीवन का अभिलाषी है, उसको मरणशील का सहारा नहीं लेना चाहिए। इतनी सी तो बात है।

ठीक है? अब आप क्या करते हैं? अब अपने लोगों की बुद्धिमानी देखो। शरीर की आसक्ति छोड़ना थोड़ा कठिन लगता है तो कहते हैं, कि शरीरों के द्वारा हम अच्छे-अच्छे पदार्थों के खाने का स्वाद लेते थे तो अब तो हम तपस्वी हैं तो नमक नहीं खाएँगे, तो पकाया हुआ अन्न नहीं खाएँगे, तो स्वादिष्ट चीजें नहीं खाएँगे। खट्टा, मीठा, नमकीन सब एक में मिलाकर खा लेंगे, कोई बात नहीं। स्वाद की गुलामी से छुटने के लिए आप अगर यह सब करते हैं तो सही बात है भाई जिससे जैसे बने छूटो और अगर बिना नमक के खाने का भी एक शृंगार बन गया और स्वाद पर विजय पाने का भी एक अभिमान बन गया और लोक-ख्याति की भी

एक भीतर-भीतर तृष्णा बढ़ गयी तो। हम स्वाद नहीं लेते हैं, हम संग्रह नहीं करते हैं। हम नमक नहीं खाते हैं। हम ऐसा करते हैं, हम ऐसा करते हैं। तो शरीरों के सहारे किये हुए तप का अगर अपने भीतर एक आभास बन गया और उसके बल पर अपने व्यक्तित्व का शृंगार बन गया तो सत्य के नजदीक पहुँचे कि दूर हो गए? दूर हो गए। तो चले थे सत्य को पकड़ने और अशुभ प्रवृत्तियों को छोड़ करके तपस्या स्वरूप और साधन स्वरूप प्रवृत्तियों को पकड़ करके फिर आपने उस नाशवान् शरीर को महत्त्व दे दिया, उसी को पकड़ करके बैठ गए तो अविनाशी तत्त्व की अभिव्यक्ति में बहुत देर लग जाती है। बहुत दूरी हो जाती है। इसलिए शरीर की गुलामी छोड़ना है अपने को, इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है। कोई साधक आश्रम में आ जाता और स्वामी जी महाराज उसको बैठाते अपने पास और खूब प्यार करते उसको। प्यारे का प्यारा है, कोई भी आया है प्यारा ही है। कहो दोस्त पाँच वर्ष का बच्चा आ गया तो कहो दोस्त और नब्बे वर्ष का वृद्ध आ गया तो कहो दोस्त। सब दोस्त ही दोस्त हैं। परमात्मा उनके मित्र हैं तो सारा दृश्य मित्र रूप दिखाई देता है।

तो कहो दोस्त तुम्हारी क्या सेवा करें? हम लोगों की तरह नहीं। संस्था वाले लोग संस्था वालों के पास आते हैं तो वे देखते हैं कि यह कुछ काम करने के लायक है कि नहीं, कुछ पैसा देने के लायक है कि नहीं। तो ऐसा नहीं। स्वामी जी के पास कोई आए तो उससे पूछें कहो दोस्त तुम्हारी क्या सेवा करें। तो महाराज जी में स्वयं पाकी हूँ, अपने हाथ से बनाता हूँ, खाता हूँ तो ऐसा इंतजाम करा दीजिएगा। अच्छी बात है भाई, तो करा दिया इन्तजाम। अब उसका तो कल्याण अभीष्ट है महाराज को तो उस दिन सब इन्तजाम करवा देंगे और दूसरे, तीसरे, चौथे दिन से प्रवचन के समय, सत्संग के समय आरम्भ करेंगे अपने आपरेशन का इन्स्ट्रूमेन्ट। अब काटेंगे उसको तो बात करते-करते कहेंगे हाँ भाई जन्मे

हो तो पका कर खाया था, हाँ भाई आप बड़े स्वावलम्बी हैं तो सरकार की बनायी हुई सड़क पर क्यों चलते हैं? सड़क बना लीजिए तब उस पर चलिएगा।

हाँ भाई आप स्वावलम्बी हैं तो कुर्ता में बटन लगाने के लिए सुई धागा बना लीजिएगा तो लगाइएगा। क्या बात करते हो तुम, भौतिक तत्त्वों के आधार पर साँस लेने वाले शरीर और तुम उसके अभिमानी बनते हो। मैं बड़ा स्वावलम्बी हो गया। तो जन्मे थे तो पकाकर खाया था अपने से और कभी दूसरों का सहारा लिया था। तो स्वावलम्बन का अभिमान क्यों करते हो? तो ऐसी-ऐसी बातें करेंगे कि वह साधक बैठे-बैठे पानी-पानी हो जाएगा और दूसरे दिन से स्वयंपाकी होने का उसका अभिमान खत्म हो जाएगा छूट जाएगा। आएगा महाराज जी, महाराज जी। क्या बात है भाई, कोई तकलीफ तो नहीं है?

नहीं महाराज जी, हम आज से अपने से पकाएँगे नहीं, आपके भोजनालय में खाएँगे। तो यह सब कथा सुना करके मैं अपने भाई-बहनों को यह दृष्टिकोण देना चाहती हूँ कि शरीर को समाज से स्वाधीन करना चाहो तो कभी सम्भव नहीं है।

लेकिन स्वयं को शरीर से स्वाधीन करना चाहो तो सम्भव है। स्वयं को कैसे स्वाधीन किया जाएगा? तो इसको छोड़ दो संसार के लिए। और स्वयं शरीरों से, साथियों से, संसार से, सेवा-प्रवृत्ति के बाद सही कर्म के बाद जब निवृत्ति की घड़ी आए तो बिल्कुल शांत हो जाओ मूक सत्संग में रहो। अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न पूर्वक शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य आ जाएगी और मैं स्वयं अपने आप में स्वतन्त्र अस्तित्ववान हूँ, इस बात का दर्शन आपको, इस बात का अनुभव शरीर के रहते-रहते हो जाएगा। साधन-काल में हो जाएगा और सचमुच जो स्वतन्त्र अस्तित्ववान

है। उसका त्रिकाल में भी किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं है, यह आपकी अपनी जानी हुई बात हो जाएगी और मैंने तो संत कृपा से, भगवत् कृपा से ऐसा भी देखा है कि त्रिगुणातीत जो संत पुरुष हुए संसार में और उन्होंने कहा कि त्रिकाल में भी सृष्टि न थी, न है, न होगी। जब प्रारम्भ में मैं सुनती थी, महाराज जी के मुख से, तो नहीं सुनती थी, ध्यान ही नहीं देती थी।

प्रयोगशाला में से निकल कर आयी थी, तो सब बातें अटें कैसे? तो मैं कहूँ क्या जानें स्वामी जी कौन फोरेन लेग्वेंज बोलते हैं। हम नहीं जानते। सुनती ही नहीं थी, समझती ही नहीं थी, यह तो समझ के पार की चीज है ना? तो बुद्धि में अटे कैसे?

जब बुद्धि-दृष्टि से असंग हो जाओ, जब सभी दृष्टियों के पार पहुँचो तब उसका पता चले। मैं तो बुद्धि के आधार पर सब पकड़ने आयी थी, कैसे पकड़ में आए? समझ में ही न आए। लेकिन मैंने देखा संत की शरण में बैठकर जीवन का अध्ययन करके, साधन सूत्रों को काम में लाकर, मैंने देखा कि सचमुच जो आपका वास्तविक जीवन है, उस अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्व का अनुभव होता है, और वस्तुत: उस अनुभव में उस आनन्दमय अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

दृष्टि गयी कि सृष्टि गयी। इसी जगह पर गीता भवन 2 नं० में स्वामी जी महाराज बैठते थे और प्रात: काल $2\frac{1}{2}$ बजे से साधना शुरू होती थी, $3\frac{1}{2}$ बजे से मूक सत्संग होता था। उसी काल में, उसी जगह पर महाराज जी की चौकी पकड़ कर बैठे ही बैठे क्या जाने कब सबका एकदम गायब। सिवाय एक आनन्दमय अस्तित्व के कहीं कुछ नहीं है, न शरीर है, न संसार है, न सीमा है, न स्थान है, न काल है। वैस्टर्न फिलॉसफी में 'परसैप्शन ऑफ टाइम एण्ड प्लेस' पढ़ने के लिए जाने कितना दिमाग

ढूँढ डाला था—कितना लाइब्रेरी छान डाली थी, कितने आचार्यों ने बड़ा परिश्रम किया था, काल और स्थान के परसैप्शन को न करके साबित करने के लिए। बहुत जोर जबरदस्ती करके बड़ी बुद्धि लगा करके, हमारे समय में भारतीय दर्शन पढ़ाया ही नहीं जाता था उस विश्वविद्यालय में जहाँ अध्ययन किया मैंने। तो वैस्टर्न फिलॉसफी पढ़ाते थे पश्चिम दर्शन। तो उसमें काल और स्थान का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, यह व्यक्ति का अहम् बनता है, तब उसको काल का पता चलता है, तब उसको स्थान का पता चलता है।

तो काल और स्थान वह टेबिल है, वह स्क्रीन है वह पर्दा है, जिस पर कि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त की गयी भौतिक तत्त्वों से इम्प्रेशंश बनाये जाते हैं, अंकित किये जाते हैं तो ये जो सिनेमा का स्क्रीन जैसा होता है, तो वैस्टर्न फिलोस्फर यह बताते थे कि समय और स्थान की धारणा जो मनुष्य के भीतर है वह वह सिनेमा का स्क्रीन है। अब उसके ऊपर चित्र अंकित होंगे तो तुम देखना और सचमुच तुम विचार करके देख लो कोई भी मानसिक चित्र जो आपके सामने आए, काल और स्थान के विशेषण से रिक्त होगा? कभी नहीं होगा।

कोई भी घटना है, वह किसी न किसी काल में है और किसी न किसी स्थान पर है। तो 'परसैप्शन ऑफ टाइम एण्ड प्लेस' का इतना विवरण पढ़ते-पढ़ते दिमाग थक जाए। किसी भी तरह से विवेचन करके इम्तहान पास करके, उससे छुट्टी पाया मैंने। जब स्वामी जी महाराज के पास बैठ करके जीवन का सत्य सामने आया तब मैंने दर्शनकारों के सिद्धान्त को जाना कि सचमुच में यह सृष्टि त्रिकाल में न हुई, न है, न होगी।

इस बात का दर्शन कौन करता है, जो शरीरों से और समाज से, संसार से, सब दृष्टियों से, अन्तः-बाह्य सब कार्यों से, सबसे सम्बन्ध तोड़कर, सबकी आसक्ति छोड़कर, सबका सहारा छोड़कर अकेले

हो जाओ तो तुमको उस सत्य का दर्शन मिले। तो जीवन का जो आध्यात्मिक सत्य है, अध्यात्म-दर्शन का जो सत्य है, वह कल्पना नहीं है, हवाई बातें नहीं है। ऑन चेयर स्पेकुलेशन की चर्चा नहीं है वह तो तुम्हारे जीवन का ऐसा ठोस सत्य है कि एक बार उसका अनुभव हो जाए तो फिर कभी भ्रम पैदा नहीं होता है। उस जीवन के दर्शन के लिए तैयार तो हो जाओ, सो नहीं। हमारे पास हमारे वर्ग के भाई-बन्धु आते हैं तो कहते हैं कि देखिए मैं बहुत ही प्रपंच में फँसा हुआ हूँ, और मुझमें कोई अच्छाई नहीं है। और मुझको अच्छाई का दर्शन करा दो। तो कोई कहे कि मैं तो आँख बंद करके बैठा हूँ और मुझको सूर्य का प्रकाश दिखा दो। तो कैसे बुद्धिमानी का हम लोग इतना दुरुपयोग कर रहे हैं। बुद्धिमान होने का अभिमान भी और बुद्धिमानी का दुरुपयोग भी, फिर भी जीवन का दुःख मिटे। कोई जादू मन्त्र नहीं है, कोई तमाशा नहीं है, मानव जीवन खेल तमाशे के लिए नहीं बना है। बड़ा ही मूल्यवान है और मुझको संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य, सबसे बड़ा आश्चर्य क्या मालूम होता है, तो मेरा यह अहम्। ईश्वर की महिमा का कोई वारापार नहीं है। वायुमण्डल के संसार को ऐयरवर्ल्ड और वाटर वर्ल्ड, समुद्र के भीतर और धरती के भीतर और हवा के भीतर, आकाश में और गृह-नक्षत्रों में वर्ल्ड में रिसर्च होते जा रहे हैं, खोज करते जा रहे हैं और बड़ा-बड़ा नाम और बड़ी-बड़ी उपाधि लेकर लोग बैठते हैं। थोड़ा-थोड़ा मैंने भी पढ़ा है। मेरा भी बहुत इन्टरेस्ट था।

सबमें जितना-जितना आश्चर्य है भाई, वे सबके सब सीमित और भौतिक सीमा के भीतर हैं। सबसे अधिक आश्चर्यजनक रचना आपकी अपनी है, मनुष्य का यह 'मैं पन' है। जो संसार के तत्त्वों को लेकर बने हुए शरीर को लेकर इस धरती पर विचरण करते हुए, अनंत अविनाशी जीवन के आनन्द का भी अनुभव कर सकता है और अनन्त महत्त्ववान्

अनन्त ऐश्वर्यवान्, अनन्त माधुर्यवान् परमात्मा का प्रेमी होकर उनके साथ प्रेम के आदान-प्रदान का प्रेमालाप कर सकता है, आदान-प्रदान कर सकता है। उनकी लीला में भाग ले सकता है, अपने प्रेम रस से उनको आनन्दित कर सकता है। उनके प्रेम रस से स्वयं आनन्दित हो सकता है और सदा-सदा के लिए उस अनन्त प्रेम सागर में, डुबकी का आनन्द, नित-नव प्रेम-रस का आनन्द ले सकता है। तो इतना बड़ा आश्चर्य जो आपकी अपनी रचना है, उस पर दृष्टि डालो नहीं, उस आश्चर्यजनक रहस्यमय अनन्त तत्त्व की अभिव्यक्ति का पुरुषार्थ करो नहीं, तो आकाश में खोजते फिरो, समुद्र में डुबकी लगाते फिरो, धरती की खान खोदते फिरो। कोई सीमा लगेगी ? नहीं लगेगी। तो महाराज कभी-कभी मुझको कहते, देवकी जी, इस भौतिक विस्तार की भी सीमा इतनी बड़ी है कि मनुष्य सब जान नहीं सकता है। रिसर्च करने वाले करते रहते हैं। उपाधियाँ देने वाले हम लोग देते रहते हैं। ताली बजाने वाले ताली बजाते रहते हैं। भौतिक शक्ति की भी सीमा इतनी अधिक है कि उसमें आदमी खो जाए। बुद्धि की सीमा खो जाए। पता ही न चले।

लेकिन तुम्हारे भीतर जो अलौकिक तत्त्व विद्यमान है, वह तो सारे संसार से बड़ा है भाई ! उसके विकास का उपयोग, उसके विकास का पुरुषार्थ, थोड़े ही दिनों में हम भाई-बहनों को कर लेना चाहिए और उसके विकास का क्या समय लगेगा, क्या श्रम लगेगा, क्या खर्च लगेगा ? तो कुछ नहीं ? आवश्यकता जाग्रत हुई और अंधकार मिटा। ईश्वर का सहारा लिया आपने और वे प्रकट हुए।

जिस नाम से पुकारेंगे आप उत्तर दे देंगे। जिस भाव से मानेंगे वे पार लगा देंगे, जो आपकी अभिलाषा होगी उनसे प्रेम के सम्बन्ध में वे सारी पूरी करने में वे अपने को न्योछावर कर देते हैं। तो संत कबीर कहते हैं—

"मन ऐसा निर्मल भया जैसा गंगा नीर,
पाछे-पाछे हरि फिरें कहत कबीर-कबीर ॥"

तो प्रभु के प्रेम में कबीर खो गये और वह प्रेमास्पद जो है वह कबीर के प्रेम का आदर करने के लिए और अपने प्रेमी को सँभालने के लिए कबीर-कबीर पुकारता हुआ, पीछे-पीछे फिर रहा है। तो प्रेमी प्रेमास्पद हो गया, प्रेमास्पद प्रेमी हो गया। इस अलौकिकता को इस जीवन में अनुभव नहीं किया, तो मनुष्य होकर क्या किया? अच्छा अब शांत हो जाइये।

●

प्रवचन 6

पूज्य संत महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो।

ईश्वरवाद मनुष्य के जीवन का एक अनिवार्य तत्त्व है। उसके अनुसार सम्पूर्ण जीवन को साधनमय बनाने के लिए स्तुति, उपासना और प्रार्थना की चर्चा हुई। स्तुति का अर्थ है उस अनदेखे परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करना। स्वतन्त्र सत्ता है उनकी, ऐसा स्वीकार करना, अस्तित्व को स्वीकार करना कहलाता है, आस्तिक होना कहलाता है और सत्ता की स्वीकृति के साथ ही उनकी अनन्त महिमा को स्वीकार करना, स्तुति कहलाती है। परमात्मा हैं और वे अनन्त महिमावान् हैं।

सत्ता को मान लिया और उसके साथ उनकी महिमा को मान लिया। उनकी महिमा को भी स्वीकार कर लिया हमने तो हमारे जीवन से स्तुति आरम्भ हो गयी। स्तुति शब्द का यह अर्थ नहीं है कि हम सुन्दर-सुन्दर शब्दों में, छन्दों में अच्छी ललित भाषा में उनके गुणों का वर्णन करें, यह तो बाहरी बात है। लेकिन जिन महापुरुषों ने ईश्वर-विश्वासियों ने प्रभु की सत्ता को स्वीकार किया उनकी महिमा को स्वीकार किया, उन्होंने जिन शब्दों में स्तुति को प्रकट किया, वे शब्द कोरे शब्द नहीं है, वह उनका जीवन है। हम लोग भी यदि ईश्वरवादी है और इसको अपने में सजीव बनाना चाहते हैं, और ईश्वर से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए कृतकृत्य होना पसंद करते हैं, तो इस असली अर्थ में हम लोगों को भी स्तुति करनी चाहिए। पहली बात होगी सत्ता को स्वीकार करो दूसरी बात होगी उसके साथ उनकी महिमा को स्वीकार करो। स्तुति हो गयी।

उपासना का अर्थ बताया महाराज जी ने उनके साथ अपनी आत्मीयता का नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना। नित्य सम्बन्ध उसको कहते हैं, जो पहले भी था आज भी है और आगे भी रहेगा। नित्य शब्द का अर्थ आप जानते हैं। नित्य सम्बन्ध का अर्थ होता है जो सदा के लिए है,

जिसमें कभी विछोह नहीं है, वियोग नहीं है। जिसके टूटने, छूटने की कभी सम्भावना नहीं है। ऐसे सम्बन्ध को नित्य सम्बन्ध कहते हैं।

परमात्मा हम सभी के नित्य सम्बन्धी हैं, यह तो सत्य है जीवन का। और हम आज से, जब ईश्वरवादी होने की आवश्यकता हमने अनुभव की तब से उस नित्य सम्बन्ध को अपने द्वारा स्वीकार कर लें, यह उपासना है। उपासना की विधियाँ बहुत सी हैं, अनेकों प्रकार से उपासना की विधियाँ सिखाई जाती हैं, बतायी जाती हैं, प्रचलित हैं। अलग-अलग साम्प्रदायिक सीमाएँ हैं, अलग-अलग मजहबी ढंग हैं।

बहुत सारी बातें हैं जिससे कि उपासना के विधि-विधान में बहुत अन्तर पड़ जाता है। और सीमित होना, खास प्रकार के विधि-विधान का प्रतिपादन करना, यह भी मनुष्य की सीमित शक्ति के अनुरूप सहायता देने के लिए है। लेकिन मौलिक बात क्या है? कि आपने उस अलख अगोचर, अनन्त परमात्मा के साथ अपना नित्य सम्बन्ध माना कि नहीं माना। अगर मान लिया है कि वे मेरे अपने हैं और सदा-सदा के अपने हैं, इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया आपने, तो उपासक हो गए।

अब उस भाव को बढ़ाने के लिए, उस सम्बन्ध को सजीव बनाने के लिए, विधि-विधान आपका चाहे जैसा हो, जो पसंद आए सो करिए, जो गुरु ने बताया सो करिए, जो आपकी परम्परा में है वह करिए, जो आपकी संस्कृति में से आयी वह करिए। साकार उपासना भी होती है, निराकार भी होती है। मानसिक पूजा भी होती है, क्रियात्मक पूजा भी होती है। स्थूल शरीर को लेकर भी प्रभु के प्रेम को बढ़ाने के लिए बहुत प्रकार की विधि की जाती है, भाव-शरीर को लेकर के भी भाव-शरीर से भी बड़ी पूजा होती है परमात्मा की और उसमें भी खूब सजीवता आती है।

तो बाहरी बातों में हर भाई-बहन स्वाधीन है। जिसकी जैसी रुचि हो, जिसकी जैसी बनावट हो। बाहरी बातों में कोई पराधीनता नहीं है।

हर व्यक्ति स्वाधीन है, लेकिन मौलिक बात जो है कि उनके नित्य सम्बन्ध को, आत्मीय सम्बन्ध को अपने द्वारा स्वीकार करना और सदा के लिए स्वीकार करना और सदा के लिए अन्य सब सम्बन्धों को उस एक सम्बन्ध में विलीन करना। यह जो मौलिक सत्य है, इसको नहीं मानने पर कोई विधि-विधान सफल नहीं होता है। इस बात को आप सोचिएगा और जिस प्रकार का कथानक है, इतिहास है, उस ढंग से सोचकर देखो कि मीरा जी को पहले उनकी माताजी ने यह बात बतायी कि गिरधर गोपाल तेरा पति है।

पहले उन्होंने माना तब उसके बाद उनको रिझाना आरम्भ किया। पूजा करेंगी, पुष्प चढ़ाएँगी, चरणामृत लाएँगी, संगीत सुनाएँगी, नृत्य दिखाएँगी, यह पीछे शुरु हुआ। पहले उन्होंने अपने गिरधर गोपाल को अपना पति कहकर स्वीकार किया। तो पहले स्वीकृति है, और स्वीकृति में से साधना की अभिव्यक्ति है। यह बात समझ में आती है? पहले परमात्मा के प्रति अपने आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति है। पहले उन्होंने स्वीकार किया कि गिरधर गोपाल मेरे पति हैं। तो अब पति हैं मेरे तो मेरा सम्बन्ध केवल उन्हीं से है, और कोई दूसरा मेरा हो ही नहीं सकता है।

फिर जब माता-पिता ने विवाह रचाया और राजा भोज विवाह करने लिए आये तो मीरा जी कहें कि मैं तो गिरधर गोपाल की हूँ। तो यह सब कुछ उनका है। अब यह दूसरा आदमी कैसे हमारे हाथ को छू सकता है। तो वह छोटी सी बालिका पाणिग्रहण संस्कार के समय पंडित जी कह रहे हैं बाई जी का हाथ निकालो, हाथ में हाथ पकड़ाया जाए। तो बाई जी ने हाथ निकाला ही नहीं, दिया ही नहीं। मुट्ठी बाँध करके जबरदस्ती रोककर रख लिया कि यह तो गिरधर गोपाल का है, इसको दूसरा कोई छू कैसे सकता है। यह स्वीकृति है? कि उपासना की विधि है? स्वीकृति है।

स्वीकृति मनुष्य के अहम् को बदल डालती है। जितना मुझे अवसर मिलता है, सत्संगी भाई-बहनों की सेवा में जीवन का सत्य सुनाने के लिए बारम्बार आपका ध्यान इस बात पर ले जाती हूँ मैं कि तुम्हारा जो अहम् रूपी अणु है, उसका बड़ा ही विलक्षण स्वरूप है। बड़ी विलक्षण रचना है। क्या है? कि वह जब अपने को अविवेक पूर्वक शरीर के साथ मिला दें तो शरीर के समान बनने, बिगड़ने वाले सब लक्षण उस पर आरोपित हो जाएँ। और आप ही स्वयं ही अपने असली स्वरूप के अनुसार अलौकिक तत्त्वों से रचे हुए स्वभाव के अनुसार जब अलौकिक परमात्मा से जोड़ लेते हैं, तो अलौकिकता सब आप ही के भीतर प्रकट हो जाती है। बड़ी विलक्षण बात है। मीरा जी ने गिरधर गोपाल को अपना पति मान लिया, तो इस मान्यता में से इस स्वीकृति में से उनका विचार, उनका भाव, उनका व्यवहार सब स्वतः ही प्रकट हो गया। इसीलिए मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में कहा जाता है कि सत्संग करो, सत्संग करने वाली बात है, वह आपका पुरुषार्थ है और साधन होने वाली बात है।

स्वामी जी महाराज ने हमेशा कहा कि भई ध्यान करोगे क्या? ध्यान हो जायेगा। याद करोगे क्या? स्मृति जग जाएगी। जो लोग स्वयं को बदलते नहीं है, अपने सम्बन्ध को ठीक नहीं करते हैं, विश्वास को ठीक नहीं करते हैं, अनित्य से सम्बन्ध रखेंगे और नित्य का ध्यान करेंगे तो परिणाम क्या होगा? चाहते हैं नित्य का ध्यान करना और जबरदस्ती अनित्य का चिंतन उनके भीतर घुसा रहता है।

यही होता है। शरीर से सम्बन्ध रखेंगे और भगवान का भजन करना चाहेंगे। तो भजन जबरदस्ती शरीर का होने लगता है। भजन शब्द का अर्थ सुनाया महाराज जी ने, आवश्यकता अनुभव करना। तो जिसने शरीर को अपना माना उसके भीतर भगवत्-भजन के काल में शरीर का चिन्तन जबरदस्ती घुस जाता है। घुस जाता है कि नहीं? अगर आपको किसी

डॉक्टर ने बता दिया हो कि तुमको कोई घातक बिमारी लग गयी है और आप में शरीर का विश्वास टूटा नहीं है, नहीं छोड़ा है आपने, तो शरीर का विश्वास नहीं छोड़ा, शरीर का सहारा नहीं छोड़ा, शरीर को अपना मानना नहीं छोड़ा और थोड़ी देर के लिए विधि-विधान के अनुरूप भगवान का भजन करने, चिंतन करने बैठे ।तो उस भगवत्-चिंतन के बीच में शरीर का चिन्तन जबरदस्ती घुस जाता है। क्यों? क्योंकि उसमें आपने विश्वास किया है, उससे आपने सम्बन्ध माना है। तो माने हुए सम्बन्ध का प्रभाव अपने पर होता है। अपने विश्वास का प्रभाव अपने पर होता है। इसलिए सत्यदर्शी संत ने ईश्वर- विश्वासी साधकों को सलाह दी कि भई उपासना का मूल मन्त्र है प्रभु के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करना।

स्वीकृति की ही बात है हमारी ओर से। सत्य तो पहले से विद्यमान ही है। जो 'सोर्स ऑफ लाइफ' है, जो जीवन का उद्गम है, जिसमें से हम सबकी उत्पत्ति हुई है, जिसकी सत्ता पर हम सब लोगों की सत्ता आधारित है, उससे सम्बन्ध टूटना कभी सम्भव है क्या? जी ! नहीं है। तो हमारी विमुखता काल में भी हमारे जीवन का तार उनसे लगा रहता है कि नहीं? लगा रहता है। तो उधर से कोई कभी तो हुई नहीं। उधर से सम्बन्ध टूटा नहीं। यह आधुनिक पति-पत्नी का सम्बन्ध नहीं है कि कोर्ट में जाकर रजिस्ट्रेशन करके रजिस्टर में दस्तखत कर दिया कि आज हम दोनों पति-पत्नी अपने को स्वीकार करते हैं तो सम्बन्ध बन गया और कुछ दिनों के बाद वहाँ तलाक दे आए तो तलाक हो गया, सम्बन्ध टूट गया। यह दुनिया का बनाया हुआ सम्बन्ध नहीं है कि बना लेने से बन जाएगा और तोड़ देने से टूट जाएगा। यह बनाने से बनता होता तो तोड़ने से टूट जाता। ठीक है ! तो यह बनाया हुआ नहीं है हमारी ओर से उपजाया हुआ नहीं है। यह तो जीवन का जो श्रोत है, जो उद्गम है, जिसमें से सब प्राणियों की जिन्दगी उद्भूत होती है, वह 'मेन सोर्स ऑफ लाइफ' 'मेन

स्प्रिग ऑफ लाइफ' सम्पूर्ण जीवन का जो उद्‌गम है, उसी में से हम सब लोगों को जिन्दगी मिली हुई है। उसी की सत्ता पर हमारी सत्ता आधारित है तो उससे कनैक्शन तो कट ऑफ हो ही नहीं सकता।

इसलिए हमको कोई नयी बात बनानी नहीं है। भूल गए हैं, हम लोग विमुख हो गए हैं। उसकी अवहेलना करके उसी का प्रतिरूप उस अव्यक्त का प्रतिरूप जो यह व्यक्त जगत् है, बनने बिगड़ने वाले जो दृश्य हैं उन दृश्यों को पकड़ करके हम उससे सुख लेना पसंद कर रहे थे तो उस अनन्त प्रेम स्वरूप के प्रेम का कोई स्वाद नहीं मिला। भूखे-प्यासे होकर के बेचैन होकर फिरने लगे। जिज्ञासा जाग्रत हुई तो संत महानुभावों ने, अनुभवी जनों ने मन्त्र बता दिया। प्रेम की प्यास से बेचैन होकर आप फिरने लगे तो किसी भगवत्-अनुरागी ने उस प्रेम-सागर का पता बता दिया।

यही हुआ न ! और तो कोई नयी बात नहीं की किसी ने। एक बार एक जगह पर सभा हो रही थी, तो एक सज्जन आए। बड़े क्लास वन ऑफिसर रहे थे रिटायर्ड होने के बाद। तो जिस तरह की बातचीत करने की आदत थी उनको उसी आदत के अनुसार स्वामी जी महाराज के पास आकर बैठ गए और कहने लेंगे कि स्वामी जी महाराज मिस्टर गौड के पास टेलीफोन है कि नहीं? तो महाराज ने कहा, है। तो उसने कहा कि महाराज जी मुझे नम्बर बता दीजिए में बात करना चाहता हूँ।

तो महाराज जी ने नवम्बर गिना दिये उनको, लो कर लो बातचीत। कनैक्शन कभी कटऑफ होता नहीं है भाई, एक्सचेंज की मध्यस्थता की जरुरत नहीं है भाई। यह बाहरी टेलीफोन का कनैक्शन कोई लगावे जुटावे, बीच में तार खराब हो जाए मशीन खराब हो जाए तो बातचीत न हो। तुम्हारा उनका कनैक्शन तो ऐसा अमिट है कि वह काल के व्यवधान से, बाहरी परिस्थितियों के परिवर्तन से, या मेरी नालायकी से भूल गयी उनको,

विमुख हो गयी उनसे और उनके विपरीत उन्हीं की बनायी हुई सृष्टि के बनने-बिगड़ने वाले दृश्यों को पसंद किया। तो कुछ भी नालायकी मैंने की, मेरी नालायकी से हमारे उनके बीच का जो अटूट सम्बन्ध है, वह टूटा नहीं, बिगड़ा नहीं वहाँ कोई व्यवधान नहीं आया।

वह तो सदा के लिए है। अगर नहीं होता तो मेरे मानने से बन जाता और मेरे न मानने से बिगड़ जाता। इसलिए मुझको तो इस सत्य के दर्शन से बड़ा बल मिला कि मैं याद रखूँ तब भी, मैं भूल जाऊँ तब भी, मैं मान लूँ तब भी, मैं न मानूँ तब भी, हमारे और उनके बीच का जो सम्बन्ध है वह कभी टूटता नहीं। कितनी जोरदार बात है। अब अपनी तरफ से क्या करना है कि बिना देखे, बिना जाने, बिना याद आए, केवल मान लो। तो मान लेते हैं। अभी भी होता है, मेरे सामने कई बार ऐसे होता है। बचपन से ही बड़े समूह में रहने का मौका मिला।

हजारों हजार विद्यार्थियों के बीच में रहे। कहीं पर किसी से भेंट हो गयी और अब साधक-समाज है। स्वामी जी महाराज के सामने घूमते-घामते वृहद् समाज में तीस वर्ष बीत गए तो कहीं पर किसी से भेंट हो गयी और उसको याद है कि मेरा उसका परिचय है, मुझको याद नहीं है। तो बहुत कोशिश करती हूँ अपने को ध्यान देती हूँ कि वह होगा, वह होगा। फिर नहीं याद आता है, तो उसके कहने से मान लेती हूँ मैं हाँ ठीक है भाई! लखनऊ स्टेशन पर एक बार में उतर रही थी तो एक लड़की महिला थी, बुरका ओढ़े हुई थी। मैंने तो उसको देखा नहीं, उसने मुझको देख लिया और आकर के एकदम मेरे कमर में हाथ डालकर चिपक गयी, लटक गयी। दीदी आप यहाँ कहाँ? कैसे आयी हैं? तो मैं उसको देखने लगी तो मुँह तो दिखायी नहीं दिया। बुरका ओढ़े हुई थी पूरा! तो देख तो नहीं सकी मैं। मैंने पूछा तुम कौन हो भाई? कैसे पहचानती हो मुझे? तो उसने याद दिलाया इतने-इतने साल के भीतर चार वर्ष मैं विमेन्स कॉलेज

में आपकी स्टूडेन्ट थी, आपने मुझको पढ़ाया था। हमने कहा तू यहाँ कहाँ से? तो कहने लगी विवाह होने के बाद लखनऊ में आ गयी हूँ। यहाँ रहती हूँ, तो खूब प्रेम का आदान-प्रदान हो रहा है। न मैंने शक्ल देखी न पहचाना। उसके भी आँसू आये खूब रोयी हाल पूछा। खूब प्यार किया, खूब प्यार लिया हमने विदा कर दिया, चली गयी। तो हमने देखा ही नहीं, पहचाना ही नहीं, शक्ल देखने में नहीं आयी। लेकिन उसके हृदय का भाव इंकार कैसे करूँ? उसने कहा कि मैं आपकी स्टूडंन्ट हूँ, आपने चार वर्ष मुझको पढ़ाया। अमुक-अमुक साल में हम थे, ऐसी-ऐसी लड़कियाँ थी उस ग्रुप में, ऐसा सबजैक्ट था हमारा, यह हुआ वह हुआ। सब उसको याद है। अब उसने सुना दिया मुझको और बिना मुँह देखे बिना पहचाने। हटा नहीं सकती थी वह बुरका क्योंकि उसके सुसराल के पति, ससुर सब उसके आस-पास खड़े थे। तो पर्दा वाली मुसलमान लड़की तो उसने पर्दा हटाया नहीं और खूब मुझसे प्रेमालाप कर लिया और श्रद्धा-भक्ति दिखला करके चली गयी और मैंने मान लिया कि हाँ तुम मेरी स्टूडेन्ट रहीं होगी। क्या करें?

अब वह कह रही है कि मैं हूँ। तो ऐसा सम्बन्ध जो हमारा उनका है, आप सभी भाई-बहनों का है, मानने वालों का भी है और न मानने वालों का भी है। प्रेमी होने वालों का भी है और बिछुड़ने वालों का भी है। ऐसा जो सम्बन्ध है, उसकी सत्यता, उसकी नित्यता में आप विश्वास करिए। सचमुच आप देखेंगे कि बिना किसी दूसरे विधि-विधान के आपके भीतर उनका होनापन ऐसा बढ़िया से प्रकट हो जाता है कि वे परमात्मा स्वयं ही आपको इस बात को जानने के लिए आतुर हो जाते हैं कि मेरे प्यारे तूने बड़ी बहादूरी की कि देखे हुए जगत् को इन्कार कर दिया और मुझे बिना देखे को स्वीकार कर लिया। तेरी इस बहादूरी पर मैं आनंदित हो गया हूँ और अब तू देख ले मुझको मैं तेरे ही में विद्यमान हूँ।

यह बात साधन-काल में परमात्मा अपने विश्वासियों को बता देते हैं, दिखा देते हैं। यह तो अब उनकी अपनी मौज है ना? कोई कानून तो उस पर लगाया नहीं जा सकता है। कोई टेकनीक बाहर से बनाया नहीं जा सकता, कोई मेथड नहीं बनाया जा सकता कि ऐसा-ऐसा करोगे तो ऐसा-ऐसा होगा। ऐसा नहीं है। उस नित्य विद्यमान का अपना प्रेमी स्वभाव है। और सचमुच में इसमें मनुष्य की बहादुरी मानती हूँ। इसलिये मानती हूँ कि देखे हुए को इन्कार कर देना होता है। नहीं, नहीं, नहीं यह सब मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। तो तुमको क्या चाहिए भाई! तो मुझको तो उस अपने नित्य सम्बन्धी का प्रेम चाहिए।

बिना देखे परमात्मा को अपना पति मान लेना, पुत्र मान लेना, मित्र मान लेना और सब कुछ उसके प्रति न्योछावर कर देना। अपने पर से अपना अधिकार उठाकर उनका सर्वाधिकार सुरक्षित कर देना। सर्वाधिकार, है तो उन्हीं का। और साधक की भाषा में कहेंगे तो कहेंगे कि हे प्रभु इस तन पर, इस मन पर, इस धन पर, इस जीवन पर, तुम्हारा अधिकार मानता हूँ मैं, तुम्हारे अधिकार में छोड़ता हूँ मैं। तो ये प्रारम्भ की भाषा तो गयी। और थोड़ा सा आपको परिचय मिल गया उनकी विद्यमानता का तो वे अपनी महिमा को आप ही आपके भीतर प्रकाशित कर देंगे, तो आप कहने लग जाएँगे कि 'सदा-सदा की मीरा दासी'। अरे मैंने तो भूल से कहा कि तुम्हारे अधिकार मैं सौंपती हूँ, इसके मालिक तो तुम सदैव के हो। सदा-सदा का यह जीवन तुम्हारा है। सदा-सदा का यह सब कुछ तुम्हारा है। थोड़े ही दिनों के बाद वे महामहिम अपनी महिमा को आपके भीतर स्वतः ही प्रकाशित कर देंगे तो आपको यह बात सत्य के समान दिखने लग जाएगी कि अरे मैं तो भूल ही गया था, यह तो उन्हीं का था यह मेरी भूल थी कि मैंने अपना माना था। सदा-सदा का तुम्हारा ही सर्वाधिकार है। तो अब में ऐसा कहती हूँ कि उनका सर्वाधिकार सुरक्षित रहने दो,

अपनी दखल मत डालो उसमें। अपनी ओर से अपना अधिकार मानेंगे हम लोग, तो उसी में फँस जाएँगे। अधिकार सुरक्षित रहेगा भी नहीं; भार ढोया जाएगा ही नहीं और मालिक पने के बोझ से दबे भी जाएँगे, मरे भी जाएँगे और उस मिलकियत को छोड़ेगे भी नहीं। तो कितनी दुर्दशा होगी?

वस्तु छिन जाएगी। शरीर नाश हो जाएगा और हाय मेरा चला गया। तो कितनी दुर्दशा होगी? कि नहीं होगी। उस दुर्दशा से बचना है अपने को; इसलिए उस जगत् पति की उस सर्वश्रेष्ठ की उस अनन्त ऐश्वर्यवान् की महिमा को मान लो और उनका सर्वाधिकार सुरक्षित रहने दो। उनकी ओर से तो है ही। मेरे दखल डालने से उनके ऐश्वर्य में कोई कमी आती है क्या? नहीं आती है। वे अपनी ओर से ढील दे देते हैं, छोड़ देते हैं। अच्छा मेरा बच्चा अधिकार मानने में सुख लेता है तो थोड़ा इसका मजा भी देखले वे तो रोकेंगे नहीं। स्वामी जी महाराज कहते देवकी जी, समुद्र में मछलियाँ उछल-कूद मचाती हैं तो समुद्र को कोई डिस्टरबेन्स नहीं होता है। हमारे भीतर हमारी ही भूल से उत्पन्न हुए विकार मेरे भीतर भी उछल कूद मचाते हैं और बाहरी समाज में भी उछल-कूद मचाते हैं।

आदमी के भीतर के विकार जो हैं, क्रोध है, क्षोभ है, लोभ है, असंतोष है, अभिमान है तो हमारे विकार जो हैं भीतर भी हलचल मचाते हैं और प्रभु की इस विशाल सृष्टि में बाहर भी उछल-कूद मचाते हैं। लेकिन हमारी इस उछलकूद से हमारी इस हलचल से उस महामहिम की महिमा में कोई डिस्टरबेन्स नहीं होता है। सर्वाधिकार सदैव ही उनका सुरक्षित है। और सचमुच वे ही है जगत्पति होने के लायक, जगत्पति कहलाने के लायक और अनन्त कोटि ब्रह्मांडों के संचालन को कायम रखने के लायक। अपनी ओर से हमें क्या करना है? कि उनके नित्य सम्बन्ध को अपनी ओर से

स्वीकार करके उनके सर्वाधिकार को सुरक्षित रहने देना है। अर्थात् तन पर, धन पर, मन पर, जीवन पर, कुटुम्ब पर, समाज पर, पशु-पक्षी, वनस्पति पर किसी पर अपने अधिकार का दोष मत लगाओ। तुम हो गये अधिकार-शून्य और यह सब कुछ हो गया तुम्हारी ओर से उनके समर्पित। तब देखो क्या आनन्द आता है? यह हो गयी उपासना।

अब कितनी माला जपोगे कितनी संख्या पूरी करोगे। किस नाम से पुकारोगे और कैसे क्या करोगे ये तुम्हारी अपनी मौज है। अगर उस क्रिया का सहारा लिए बिना न रहा जाए तो कर डालना और करने का जी न चाहे तो छोड़ देना। प्रिय लगे तो उसमें शामिल हो जाना, भार लगे तो कोई चिंता मत करना। जीवन का जो सत्य है उस सत्य की स्वीकृति से साधक का काम बहुत ही हल्का हो जाता है। एक बार मान लिया तो उस मान्यता के प्रभाव से, सत्य की स्वीकृति से, मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब अपने आप परिवर्तित हो गयीं।

महाराज जी को इस बात की बड़ी पीड़ा थी कि क्या बताएँ अहम् को बदले बिना, असत् स्वीकृति को छोड़े बिना, सत्य स्वीकृति को स्वीकार किये बिना, साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती है। तो साधक करते क्या हैं? कि सत्य की स्वीकृति पर उनका ध्यान न दिलाया जाए और बाहर से विधि-विधान पकड़ा दिया जाए, तो न करते बनता है, न छोड़ते बनता है।

कितनी बार साधक मुझसे कहते हैं कि भई क्या करें? एक महिला कहने लगीं इसी जगह बैठ करके कि क्या करें? नित्य नियम जो है मेरे पाठ का, वह किए बिना रहा नहीं जाता है और जब करने बैठती हूँ तो जल्दी-जल्दी पन्ना उलटने का मन होता है। बहुत सा काम नुकसान हो रहा है, जल्दी-जल्दी करके खत्म करो। करने लगो तो भार लगे और छोड़ दो तो चैन न आवे। तो एक नयी मुसीबत साधक के लिए हो गयी ना। न किया ही जाए न छोड़ा ही जाए।

सत्यदर्शी संत स्वामी जी महाराज ने जो मानव-जीवन को देखा अपनी ऋतम्भरा अवस्था में देखा, बुद्धि की समता में, शरीरों की असंगता में, जहाँ स्वयंप्रकाश्य का ज्ञान स्वत: प्रकाशित होता हैं उस प्रकाश में उन्होंने मानव-जीवन का सत्य देखा तो वे देख करके निवेदन करते हैं कि भाई तुम्हारे अहम् रूपी अणु में विलक्षण शक्ति है, तुम उस सत्य के साथ, उस नित्य सम्बन्धी के साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लो, तो तुम्हारी उस बहादुरी से, तुम्हारी उस स्वीकृति से मन, चित्त, बुद्धि, अहं सब अपने आप ही बदल जाएँगे। तुम्हें कुछ करना नहीं पड़ेगा।

उनको बड़ी पीड़ा होती थी कि संसार की मुसीबतों से फँसा हुआ व्यक्ति संत के पास आता है, गुरु के पास आता है। सत्संगी बनता है, साधक बनता है। तो साधक बनके आए, सत्संगी बन के आए तो उसके सिर पर मैं भी एक मुसीबत लाद दूँ कि जो न कर सके न छोड़ सके। यही होता है ना। अहम् को बदले बिना, स्वीकृति को बदले बिना, नियम पकड़ा दिया गया। इतनी संख्या में यह जप करो, इतनी संख्या में यह पाठ करो। इतनी देर यह ध्यान करो, इतनी देर यह करो। तो अहम् को बदले बिना, स्वीकृति को बदले बिना, असत्य सम्बन्ध को छोड़े बिना, नित्य सम्बन्ध को स्वीकार किये बिना, सब विश्वास एक विश्वास में विलीन करो, सब सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन करो, इसके किये बिना जब साधक बेचारा साधन करने चलता है तो ध्यान करो तो ध्यान न लगे, भजन करो तो भजन न बने। नाम लेना शुरू करो तो नाम न लिया जाए। माला जपना शुरू करो तो माला न जपा जाए। मैंने तो देखा है, अपने जीवन को देखा है। जिन्होंने परमात्मा को अपना आत्मीय करके स्वीकार कर लिया, उस आत्मीयता के रस में वे ऐसे मस्त हो जाते हैं कि वे शरीर और संसार को भूल जाते हैं। मैंने शरीर और संसार को इम्पोर्टेन्स देकर, शरीर और संसार को महत्त्व देकर, एक अच्छा मनुष्य हूँ मैं, तो सब मेरा

अच्छा-अच्छा समाज की दृष्टि में निभना चाहिए, इसको महत्त्व देते हुए जब पूजा करने बैठूँ तो पूजा के आइटम्स को भूल जाऊँ। फूल चढ़ाया तो चन्दन चढ़ाना भूल गयी, जल चढ़ाया तो तुलसी पत्र डालना भूल गयी। मैंने तो देखा है, अपने को देखा है। सुनी हुई कथा नहीं सुना रही हूँ। गपशप नहीं सुना रही हूँ, कल्पना और अनुमान की चर्चा में आपके सामने कभी नहीं करती हूँ। इसलिए नहीं करती हूँ कि मेरे गुरु ने मेरी निष्ठा के अनुसार मुझको विश्वास दिलाया कि संसार को तुम्हारा उपदेश सुनने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे भीतर वक्ता होने का राग था, तुम्हारे प्रेमास्पद ने तुमको रागरहित करने के लिए श्रोता का वेश बनाया है। मैं उनको, सर्वज्ञ को, परम हितैषी को, कल्पना सुनाऊँगी, अनुमान सुनाऊँगी? तो मैं कल्पना और अनुमान नहीं सुनाती हूँ, जीवन का सत्य सुनाती हूँ।

मैंने अपनी दशा देखी है। संसार का महत्त्व मानो और भगवान की पूजा करने बैठो तो पूजा के आइटम्स भूल जाते हैं। और परमात्मा को अपना मानो और नाम लेने बैठो तो हाथ से माला छूट जाती है अहम् उस अनन्त में जाकर जुट जाता है। प्रेम के प्रवाह में शरीर और संसार को भूल जाता है व्यक्ति। तो माला कहाँ याद रहेगी? तो पूजा की यह विधि है भाई? सत्य को स्वीकार न करो और अनित्य शरीर के आधार पर स्थूल वस्तुओं के आधार पर, उस सर्वव्यापक को रिझाना चाहो तो गलती हो जाती है। उनको इन्कार नहीं है, वे तो जानते हैं कि सब मेरा है। स्थूल और सूक्ष्म सब मेरा है, उनको तो मालूम है। धरती, आकाश, पहाड़ नदी, काँटे पुष्प सबको वे निज अवयव करके धारण करते हैं। उनको तो मालूम है कि सब उनका है। लेकिन अपनी दशा विचित्र है। भगवान का भजन करने चलो तो संसार का चिन्तन घुस गया।

घर के काम याद है, सभ्यता याद है, शिष्टता याद है, अब उसके चिन्तन से परेशान हैं तो पूजा के समय पूजा के आइट्म्स ही भूल गए।

एक वस्तु अर्पण किया तो दूसरी चीज छूट गयी। एक काम पहले किया जो पहले करना था, सो पीछे रह गया। बहुत बार ऐसा होता है। खूब देखा है मैंने, तो इसलिए जो सचमुच मानव हैं, जाग्रत है, ईश्वर-विश्वास के आधार पर अपने जीवन को पूर्ण करना पसंद है जिनको, उनकी सेवा में निवेदन है कि भाई, स्तुति, उपासना और प्रार्थना इनका सही अर्थ ग्रहण करो और उस ढंग से जीवन आरम्भ करो, तो अपने में जो कमी रह जाएगी उसकी पूर्ति में वे अनन्त परमात्मा कभी चूकेंगे नहीं।

मैंने ऐसा भी देखा था कि दीपक जलाया गया और हवा के झोंके से दीपक बुझ गया। बड़ी परेशानी भीतर-भीतर लग रही है दीपक जलाने वाले को हाय अब कैसे करें? अब तो दीपक बुझ गया, अब कितनी देर, में दिया सलाई मिलेगी। कितनी देर में अब मँगायेगे, अब कैसे करेंगे? अब कैसे करेंगे? तो जिसकी सच्ची निष्ठा है उसके भीतर व्याकुलता पैदा हुई कि कैसे करें? कैसे करें? तो देर नहीं लगी। मेरी आँखों के सामने की बात है, कहने वाले ने कुछ कहा नहीं, मुख से कोई शब्द का उच्चारण नहीं किया! भीतर से बैचेनी लग रही है हाय देर हो जाएगी अब कैसे करें? कैसे करें? तो बुझा हुआ दीपक जल गया। तो उनको देर लगती है क्या? वे स्थूल को स्थूल अपने से अलग जान करके छोड़ते हैं क्या? सो नहीं है। सब स्थूल उनका, सब सूक्ष्म उनका, सब लौकिक उनका, सब अलौकिक उनका, उनसे भिन्न कभी कुछ है ही नहीं। तो छोटी से छोटी वस्तु अगर आपके भीतर की आत्मीयता है, प्रियता है, अपनापन है, प्रेम की सजीवता है, प्रार्थना की सजीवता है तो सब उनको स्वीकार्य है।

प्रवचन 7

प्रश्न—संकल्प का उद्‌गम स्थान क्या है ? संकल्प का स्वरूप क्या है ? संकल्प की उत्पत्ति ही क्यों होती है ? निःसंकल्प होना क्या स्वयं में एक संकल्प नहीं होगा ? देहात्मभाव रहते क्या संकल्प-रहित होना सम्भव है ? संकल्प-रहित होना क्या अस्वाभाविकता नहीं है ? यदि स्वाभाविकता है तो फिर संकल्प उत्पन्न ही क्यों होते हैं ? आदि-आदि, अनेक प्रश्न उठते हैं। समाधान प्रार्थनीय है।

उत्तर—कई प्रश्नों का उत्तर एक ही हो जाएगा। संकल्प का उद्‌गम-देह में मम और अहम्-बुद्धि से संकल्प उठता है। निज स्वरूप में स्थिति न होने के कारण देह-बुद्धि से जब जगत् दिखाई देता है तो शरीर और संसार के संयोगजनित सुख का संकल्प उत्पन्न होता है। संकल्प की उत्पत्ति वास्तविक जीवन के लिए स्वाभाविकता नहीं है, अस्वाभाविकता है। जो अपने आप में अपने अविनाशी अस्तित्व का अनुभव कर रहा है, जो अपने आप में सन्तुष्ट होकर रह रहा है, जो उस आनन्दमय जीवन के अनुभव में आनन्दित है, उसमें संकल्प नहीं उठते।

संकल्प कहते हैं किसको ? कि जो आपको शरीर और संसार के साथ जुटा दे, उसको संकल्प कहते हैं। अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की आवश्यकता में संकल्पों की उत्पत्ति होती है। जब हम शरीर में अहम् और मम-बुद्धि रखते हैं अर्थात् मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा है, ऐसी भूल जब तक जीवन में रखते हैं तब तक संकल्पों की उत्पत्ति होती है। संकल्पों की उत्पत्ति का होते रहना अस्वाभाविक बात है, और सब प्रकार के संकल्पों की निवृत्ति जीवन की स्वाभाविकता है। संकल्प का स्वरूप क्या है ? स्वरूप यही है कि जो मुझको अपनी स्वाभाविक स्थिति से विचलित कर दे। संकल्प का स्वरूप क्या है ? जो मेरी अपनी मौलिक शांति को भंग

कर दे। जो बाह्य जगत् की ओर मुझे प्रवृत्त कर दे, जिसकी पूर्ति में अपना मूल्य घट जाए, पराधीनता और दासता आ जाए। जो पूर्ति के आधार पर अनेकों संकल्पों की उत्पत्ति कर दे। जो अपनी अपूर्ति में व्यक्ति को क्षोभ और क्रोध से भर दे, कर्त्तव्य की विस्मृति करा दे, निज स्वरूप की विस्मृति करा दे और परमात्मा की विस्मृति करा दे, उसका नाम संकल्प है। उत्पत्ति क्यों हुई? यह बात हो गयी। निःसंकल्प होना क्या स्वयं में एक संकल्प नहीं होगा? नहीं होगा। इसलिए नहीं होगा कि संकल्प के स्वरूप में आपने देखा कि संकल्प उसे कहते है, जो कि मनुष्य की स्वाभाविक शान्ति से उसे विचलित करा दे।

मनोविज्ञान में इसको कहा जाता है कि होमियोस्टेटिस को बिगाड़ देता है, मेन्टल एक्यूब्रेलियम को डिस्टर्ब कर देता है। जिस समय आपके जीवन में अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की जरूरत नहीं महसूस होती है, उस समय समाधि के बिना भी व्यक्ति स्वाभाविक शांति में रहता है। और जैसे ही संकल्प उठा नहीं कि स्वाभाविक शांति भंग हो जाती है और स्व से भिन्न जगत् की वस्तुओं के लिए, व्यक्तियों के लिए, परिस्थितियों के लिए वह चलायमान हो जाता है। तो संकल्प किसको कहते हैं, जो आपको शांति से भटका दे। संकल्प किसको कहते हैं? जो आपको बाह्य जगत् में प्रवृत्त करा दे। संकल्प किसको कहते हैं जो पूर्ति में सुख का भास पैदा करे और अपूर्ति में दुःख, क्रोध और क्षोभ पैदा करे। उस संकल्प की निवृत्ति जीवन की माँग होती है, शान्ति की माँग होती है, वह नया संकल्प नहीं होता। देहात्म-भाव रखते क्या संकल्प-रहित होना सम्भव है? हाँ सम्भव है इस प्रकार से कि जैसे हम लोग हैं और अभी शरीर का भास हमारा खत्म नहीं हुआ है लेकिन हम लोग शांति की माँग अनुभव करते हैं, अविनाशी जीवन की माँग अनुभव करते हैं। परमात्मा के प्रेम की अभिलाषा लेकर के इस दुनिया में हम लोगों ने सत्संग पसन्द किया है।

तो देह का भास मिटा तो नहीं है? लेकिन देह के रहते-रहते और शरीर के साथ मिलकर सत्य की चर्चा करने के लिए हम बैठे हैं तो शरीर की सहायता लेकर मैं बोल रही हूँ, और हमारे भाई-बहन आप सभी शरीर की सहायता लेकर सुन रहे हैं। शरीर के बिना तो बोलना, सुनना सम्भव नहीं है। यह शरीर के सहयोग से यह कार्य सम्पादित हो रहा है, फिर भी हमारे जीवन में चिर शान्ति की माँग है।

जन्म-मरण की बाध्यता मिट जाए, परम स्वाधीनता की माँग है। और परम प्रेमास्पद के प्रेम से हम अधीर हो जाएँ, ऐसी हमारी माँग है। तो इस माँग की जागृति में शरीर का भास रहते हुए भी निःसंकल्पता की साधना साधक जन करते हैं और निःसंकल्पता उनकी आती है। दक्षिण वाले स्वामी रामदास जी के जीवन में इस तरह की बात साधना के प्रारम्भ में ही आयी थी। जब उन्होंने निश्चय किया कि राम के होकर रहना है, तो घर से निकलकर जाकर कहीं बैठ गए।

तो किसी ने कहा वहाँ चलोगे? अच्छा राम जी। अब उतर जाओ, अच्छा राम जी। अब यह भोजन ले लो, अच्छा राम जी। तो उनके 'क्वेस्ट फॉर ट्रुथ' इंगलिश में किताब है, कई वोल्यूम्स है छोटे-छोटे। बहुत ही अच्छी इंगलिश, बहुत रसदार भाषा क्योंकि उसमें हृदय का रस भरा हुआ है। उसमें लिखा है कि कहाँ वे जाते थे। तो रेलवे लाइन के किनारे-किनारे एक बुढ़िया बैठी रहती थी, वह देखती रहती थी तो चलते-चलते पाँव में चोट लग गयी है, बिवाई फट गयी है, कहीं मैल जम गया है, कहीं खून लग गया है शरीर पर। कैसा-कैसा बिना स्नान के हो रहा है। वह बुढ़िया माई जाकर बच्चे की तरह बाँह पकड़कर खींच कर ले आती बाबा, इधर आ, कहके ले आती और सड़क के किनारे म्युनसिपैलेटी का जो होता है पानी का नल, उसके नीचे बैठा देती। बाबा, मैं नहला देती हूँ, नहा ले यहाँ बैठ, अच्छा राम जी खूब मल-मल करके नहला कर फिर कपड़े धो देती

फिर वह भूजा, भूने हुए अनाज की छोटी सी टोकरी लेकर बैठती थी एक बुढ़िया बेचने के लिए, उसके पास ले आकर बैठा लेती, जो उसके पास होता खिला देती और लिखा है उसमें कि राम खिल-खिलाकर हँसता रहता। अच्छा मैया कर ले, अपने मन की भी कर ले। करते-करते राम हँसता रहता, बैठा रहता, नहा लेता, खा लेता। मैया कर देती, भेज देती, चला जाता। अच्छा राम जी अच्छा राम जी। स्वामी जी महाराज कहते कि थर्ड क्लास में ट्रेन में बैठे थे तो एक कॉंस्टेबल आया, उसको सोने का मन हुआ तो स्वामी रामदास जी बैठे हुए थे, उसने कहा कि बाबा तू इधर से उतर जा नीचे बैठ, मैं सोऊँगा। अच्छा राम जी। तो नीचे बैठ गए, लेटने लगा तो उसके सिर पर पुलिस की लाल पगड़ी होती है, उसने सोचा कि बाबा बेकार बैठा है, इसी को पकड़ा दे हम जरा सा ठीक तरह से सो जाएँ, पगड़ी उतार के उसने कहा बाबा इसको रखे रहना हम थोड़ा सोते हैं। अच्छा राम जी, रख लिया उसको, रखे रहे, गोदी में लेकर बैठे रहे, वह सोया रहा, सोकर के जब वह उठा, बाबा, ला पगड़ी, अच्छा राम जी। दे दिया लेकर चला गया।

महाराज कहते उन्हीं स्वामी रामदास जी के लिए। स्वामी जी से कई बार भेंट मुलाकात हुई है, और खूब प्यार है दोनों में आपस में स्वामी रामदास जी का और अपने महाराज जी का। तो कहते कि वे ही स्वामी रामदास जी उनको पाँच साधकों के साथ सारे संसार में भ्रमण करने के लिए हवाई जहाज का इन्तजाम सरकार ने किया आगे चल करके और उन्होंने सबको सुनाया, समझाया, बताया।

प्रारम्भिक दिनों की बात मैं कहती हूँ कि देह का भास रहते हुए भी संकल्प-रहित होने का व्रत मनुष्य लेता है और कल संध्या समय की बैठक में जैसे मैंने सुनाया कि स्वामी जी महाराज ने हम लोगों को एक मन्त्र बता दिया। प्रारम्भ कहाँ से करोगे? तो अपने सुख वाला संकल्प

हो तो वहाँ से छोड़ते जाओ। छोड़ना तो अपने वश में है ना? पैदा तो हुआ इसलिए कि अभी हम लोगों को शरीर का भास है, लेकिन उसको छोड़ना अपने वश की बात है, तो छोड़ दो। और अगर सर्वहितकारी संकल्प हो तो उसको पूरा करने में ताकत लगा दो। हो जाए तो ठीक है, न हो जाए तो ठीक है।

भगवत् समर्पण भाव के साधक हो तो जिन-जिन बातों की परिस्थिति जुटती जाए, प्रभु के मंगलमय विधान को मान करके उसमें समय, शक्ति लगा दो। और पूरा हो जाए तो ठीक, नहीं हो जाए तो ठीक। बन जाए तो ठीक, बिगड़ जाए तो ठीक। ईसा मसीह कहते थे ना, प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो। यह अनुवाद मुझको अच्छा नहीं लगता है लेकिन अँग्रेजी में उसका बहुत अच्छा भाव है कि जो प्रभु का संकल्प है सो पूरा हो।

स्वामी जी महाराज ऐसे कहते कि ईश्वर-विश्वासी ऐसे ही कहते हैं कि उनके भीतर कोई संकल्प बना भी सर्वहितकारी भाव से, तो उसको भगवत् संकल्प में मिलाकर छोड़ देते हैं। अपने को तो मालूम नहीं है कि मेरे भीतर जो संकल्प आया है वह सचमुच हितकारी होगा, सिद्ध होगा कि नहीं होगा, पूरा होगा कि नहीं होगा। हम लोगों को क्या पता है? ईश्वर विश्वासी साधकों को सलाह दी महाराज जी ने कि अगर कोई ऐसा सर्वहितकारी संकल्प उठे, तो प्रभु के संकल्प में मिलाकर उसे छोड़ देना कि अगर यह भगवत् संकल्प के अनुरूप है, तो पूरा हो जाए। तो तुम्हारी सामर्थ्य अल्प हो सकती है और जब भगवत् संकल्प में उसको मिलाओगे तो प्रभु के संकल्प से बहतु से सामर्थ्यवान आकर के तुम्हारे साथ जुट जाएँगें और वह काम पूरा हो जाएगा तो हो गया तो प्रभु की शक्ति से हो गया और नहीं हुआ तो साधक क्या समझेगा? साधक यही समझेगा कि यह संकल्प पूरा होना जरूरी नहीं था, इसलिए नहीं हुआ तो दोनों ही दशाओं में न अभिमान आएगा न क्षोभ आएगा, अगर पूरा हो गया तो यह

तो मेरे मालिक के संकल्प के अनुरूप था, भगवान के संकल्प में मिला करके न मैंने उसको किया तो भगवत् संकल्प से यह पूरा हुआ।

भगवत् शक्ति से यह पूरा हुआ, तो साधक को अभिमान नहीं आएगा कि मैंने बड़ा भारी काम किया, और अगर नहीं पूरा हुआ तो उसमें कोई क्षोभ नहीं होगा। मानेगा कि जरूर यह बात ठीक नहीं थी, उसका पूरा होना जरूरी नहीं था, इसलिए पूरा नहीं हुआ होगा, और नहीं तो भगवत् संकल्प में मिल करके ये जरूर पूरा हो जाता। तो ऐसे क्रमिक ढंग से साधना के रूप में आगे बढ़ते-बढ़ते निःसंकल्पता की स्थिति आ जाती है। निःसंकल्पता जो है वह अविनाशी जीवन में प्रवेश पाने का एक संधिस्थल है। ऐसा जैसा कि इधर का सब छूटा और उधर का आरम्भ हुआ।

तो संकल्प-सहित में हूँ तो मेरे सामने संसार है, सामान है, व्यक्ति है, परिस्थिति है, अनुकूलता है, प्रतिकूलता है, समर्थक हैं, विरोधी हैं, दुःख है, और सुख है। यह कब है जब मैं अपने संकल्प के साथ हूँ तब है। और फिर अब साधना की बात शुरू हो गयी, सत्संग का प्रकाश लेकर चलना आरम्भ हो गया तो अपने लिए कुछ नहीं करना है। अपना कोई संकल्प ही नहीं है। लेकिन शरीर है, समाज है, राग-निवृत्ति का साधन बाकी है, तो सामूहिक हित की दृष्टि से कोई बात भीतर उठ रही है कि अगर ऐसा हो तो सबका हित हो, अब उस संकल्प को लेकर के चलेंगे। जो सामर्थ्य होगी, जो समय होगा उसको लगा देंगे। पूरी शक्ति से, ईमानदारी से कर देंगे।

अब उसका फल जो बनना है बने लेकिन कर्त्ता जो है वह करने के राग से फ्री होकर के निःसंकल्पता की शांति में निवास करेगा। इसलिए मानव सेवा संघ में महाराज जी ने प्रारम्भिक साधकों के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को समान महत्त्व दिया। ऐसा होते-होते जब व्यक्ति राग-रहित हो जाएगा तो शरीर रहेगा और संकल्प नहीं रहेगा।

शरीर से प्रवृत्ति होगी और शरीरधारी उसमें प्रवृत्ति के प्रभाव से आक्रान्त नहीं होगा। ऐसा चलता है और फिर और आगे बढ़ जाता है। और शांति और गहरी हो जाती है। तब क्या होता है? तब सही काम करने के बाद मूक सत्संग में आते ही, निवृत्ति में आते ही शरीर और संसार का सम्बन्ध टूट जाता है। तादात्म्य छूट जाता है तो अविनाशी जीवन के बोध का आनन्द रह जाता है।

अलग-अलग साधकों से मैंने अलग-अलग ढंग के अनुभव सुने। किसी-किसी ने तो बताया कि बहुत-बहुत दिनों तक उस देहातीत जीवन के आनन्द की मस्ती में रह गए। आनन्दमयी माता जी के मुख से मैंने सुना था, भक्तों की कही हुई बात है, अपने मुख से वे कह रही थी। साधु लोग बैठे थे और मैं बाहर बैठ करके सुन रही थी। स्वामीजी महाराज से आज्ञा लेकर के दो चार लड़कियाँ जो उन दिनों में हमारे साथ थीं, इन लोगों में से कोई नहीं थी, दूसरी-दूसरी लड़कियाँ थीं, गीता-भवन में। तो मैंने कहा कि स्वामी जी महाराज हम माँ के दर्शन करने जाएँ इन सब लड़कियों को लेकर तो उन्होंने कहा जाओ। जलोटे परिवार की दो लड़कियाँ थी और शांता जी की दो लड़कियाँ थी। और भी कोई आयी हुई थी बाहर से? उन्हीं को लेकर गयी। तो माँ जहाँ बैठी थी बहुत साधु लोग बैठे थे, तो हम लोग भीतर नहीं घुसे परमीशन लेने की भी हिम्मत नहीं। तो चौखट के बाहर हम लोग बैठ गए हमने कहा कि यहाँ बैठो यहाँ से दर्शन भी हो रहा है, बात भी सुन रहे है। तो माताजी खुद ही अपने मुख से साधु लोगों से बातचीत कर रही थीं और सुना रही थी। तो देहातीत जीवन का आनन्द सुना रही थी। तो कह रही थी कि नौ वर्षों तक अपने को पता ही नहीं चला कि कहाँ शरीर है कहाँ संसार। देहातीत जीवन के आनन्द में संकल्प, विकल्प निर्विकल्प सबके पार पहुँच गयी। बताएँ कि भूख का भी पता न चले, नींद का भी पता न चले।

तो किसी ने कहा कि कैसे हुआ फिर? तो बता रही थी बिल्कुल सहज भाव से एकदम सरल बालक की तरह वर्णन कर रही थी, कह रही थी कि किसी को खाते हुए जब मैं देखती, यह शरीर देखता ऐसा करके कह रही थीं, मैं करके नहीं, किसी को भोजन करते हुए देखता तो ऐसा लगता कि 'सुन्दर लागचे', बँगला भाषा में बोलती कि कितना सुन्दर लग रहा है? ऐसा होता और कभी-कभी कहती कि यह शरीर ऐसे ही उठ करके चला जाता भोजन के पास तो कुत्ता खा रहा हो पत्तल में चाट रहा हो कि कोई बच्चा खा रहा हो, कि कोई व्यक्ति खा रहा हो तो देख के ऐसा लगता है कि कितना सुन्दर लग रहा है। अच्छा लग रहा है देखने में। और अपने पति का नाम लेकर के शरीर धारी पुरुष से विवाह भी हुआ था। तो आनन्दमयी माता जी उनको भोलानाथ कहती थी तो वे बँगला भाषा में साधु लोगों को सुना रही थी कि दौड़-दौड़ करके मैं कभी इधर, कभी उधर जाती तो 'भोलानाथ' आम दौरे-दौरे राखचे' ऐसा बोलती कि भोलानाथ हमको पकड़-पकड़ के सँभाल के रखते। वे रक्षा में रहते थे। तब इनको नौ वर्ष की अवधि उस देहातीत जीवन के आनन्द में बीत गई। जबकि कहाँ शरीर है, कहाँ संसार है, कहाँ भूख प्यास है, कहाँ जल भोजन है? कुछ पता नहीं चला। और नौ वर्ष के बाद भी धीरे-धीरे बीच-बीच में स्व स्थिति उनकी शरीर के साथ जुट करके बातचीत करने के लायक हुई भी, तो कभी भी वे निरन्तर शरीर के साथ रहती नहीं थी।

बात करते-करते भी पार, सभा में बैठे-बैठे भी पार। अपने ही आप अपने आनन्द में डूबी ही रहती थी। और भगवत्-कृपा रही होगी, ईश्वर का विधान रहा होगा कि हम लोगों के बीच में इस प्रकार के संत रहे और अपनी कृपा से अपने जीवन के सत्य से लोगों को लाभान्वित किया। इसलिए उनका समय-समय पर शरीर से तादात्मय रख करके काम कर लेना, बात कर लेना यह सब चलता था, लेकिन उस अनुभव के बाद

आखिर समय तक आनन्दमयी माताजी में भोजन का ग्रास अपने हाथ से मुख में उठाकर नहीं डाला।

नौ वर्ष के बीच में जिन-जिन माताओं ने बहनों ने उनके शरीर को सँभाला, आखिर समय तक यह ही क्रिया चलती रही। कोई नहला देती, कोई कपड़े पहना देती, कोई बाल बना देती, कोई मुख में खिला देतीं, कोई जल पिला देती, यह अन्त समय तक चला। अपने से ग्रास उठा के मुख में डाला ही नहीं। भीतर की और अनुभूतियाँ कैसी थीं वह तो मैं नहीं जानती, लेकिन मैं इस बात की सत्यता में पूरा विश्वास करती हूँ कि साधक यदि स्व स्वरूप में स्थित होना चाहे तो अथवा परम प्रेमास्पद प्रभु के हर प्रकार से आश्रित होकर उनके प्रेम स्वरूप से अभिन्न होना चाहे तो, उसके लिए अनिवार्य फेक्टर है कि वह निःसंकल्पता को धारण करे।

शरीर के रहते-रहते समाज का काम करते-करते इस सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा और उस निज स्वरूप पर दृष्टि जिसकी लग जाएगी, वह लक्ष्य के रूप में आ जाएगा अथवा वह परम प्रेमास्पद प्रभु जिसको पसंद आ जाएगा उसका अपना व्यक्तिगत संकल्प पहले खत्म हो जाएगा। फिर सेवा का संकल्प रह जाएगा तो करते-करते उसकी शुद्धि हो जाएगी तो वह भी संकल्प खत्म हो जाएगा। मैंने तो ऐसा ही समझा है।

मैं क्या बताऊँ जो संत-कृपा से भगवत्-कृपा से, जीवन के मंगलमय विधान से बड़ी बढ़िया-बढ़िया बातें मेरी दृष्टि में आ गयीं। मेरी साधना के बल पर नहीं, मेरे त्याग और तप के बल पर नहीं। यह सब पूँजी अपने पास कुछ भी नहीं थी और न मैं अर्जन कर सकी। लेकिन संत-कृपा और भगवत्-कृपा और उस समय की पृष्ठभूमि मेरी जैसी थी, हर बात को तर्क पर लगाना, हर बात को वैज्ञानिक ढंग से समझना तो एक भाषा बना ली मैंने अपने लिए। तो तीन बातों का प्रयोग करती हूँ—पहली बात है

संत-कृपा क्योंकि पहली बार मुझे स्वामी जी महाराज की कृपा का ही दर्शन हुआ। तो पहली बात है—संत-कृपा और दूसरी बात है, भगवत्-कृपा और तीसरी बात है जीवन का मंगलमय विधान। यह जीवन का बड़ा ही मंगलकारी विधान है जो सबके साथ काम करता है। तो उसके आधार पर मैंने ऐसा अनुभव किया कि शरीर से सम्बन्ध रखते हुए और जगत् से सम्बन्ध रखते हुए अशुभ संकल्पों का त्याग करना सम्भव है? जी, सम्भव है। शरीर और संसार से सम्बन्ध रखते हुए अशुभ संकल्पों का त्याग सम्भव है, कि नहीं? है।

भई ऐसी बुराई नहीं करेंगे, ऐसी गलती नहीं करेंगे किसी को नुकसान नहीं पहुँचाएँगे किसी का बुरा नहीं सोचेंगे। अशुभ संकल्पों का त्याग तो सम्भव है। तो अशुभ संकल्पों का त्याग करते हुए और सर्वहितकारी भाव से सेवा-भाव से शुभ संकल्पों को पूरा करते हुए जैसे-जैसे व्यक्ति आगे बढ़ता है तो मान लो कि उसका प्रयास पूरा नहीं हुआ। देह का अभिमान पूरा का पूरा गल गया हो, ऐसा शुरू में तो नहीं होता हैं, सबके साथ नहीं होता है। तो अपने लोगों की दशा सामने रखकर देखिए कि हम लोग इसी कोटि के साधक हैं कि देह का आभास अपने को है और शरीर और संसार से सम्बन्ध रखते हुए, साधना के बल पर हम लोग अलौकिक परमात्मा से मिलना चाहते हैं कि नहीं चाहते हैं? चाहते हैं।

यह अपनी दशा है हम लोगों की। अब ऐसी दशा में जो आरम्भ कर रहा है यात्रा, वह कैसे करेगा क्या करेगा ऐसा सोचने से व्रत सुनाए देते हैं। स्वामी जी महाराज कहते हैं मेरा कुछ नहीं है। मुझे कुछ नहीं चाहिए। सर्वसमर्थ प्रभु अपने हैं। ये सत्य हैं इनको स्वीकार करो।

हम लोगों ने इस सत्य के इन वाक्यों में संदेह तो नहीं किया। संत की वाणी में पूरा पक्का विश्वास है, कि महाराज जी जो कह रहे हैं वह

बिल्कुल ठीक है। और सन्देह न करने पर भी पूरा-पूरा इसको मान लिया, ऐसा भी कहते नहीं बनता है। जी? नहीं बनता है। कुछ-कुछ तो अभी है कच्चापन। नहीं तो बोलने की कौन जरूरत पड़ती। कबीर की तरह हम भी मस्त होते-कहते कि—"मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।" आप कहते कि सुनाओ तो हम कहते कि नहीं सुना सकते हैं, सुनाने की स्थिति में मैं नहीं हूँ। शरीर से मेरा तादात्म्य नहीं है नहीं सुना सकते। सुनाने की स्थिति में मैं हूँ, और सुनाने की परिस्थिति बनी हुई है इसका मतलब है कि कच्चापन है पूरा नहीं हुआ अब उस दशा में क्या करें? तो उस दशा में मैं यह निवेदन कर रही थी कि इसी प्रकार की कच्ची दशा मैं स्वामी जी महाराज के पास बैठे-बैठे संकल्पों से अतीत, शरीर और संसार में अतीत कैसा वह जीवन होता है और किस प्रकार की वह अनुभूति होती है। सो समय-समय पर अपने आप अप्रयास सहज भाव से आता रहता है, आता रहता है, मिलता रहता है, देखते रहते हैं।

नहीं तो सोचिए अगर सिद्धि-काल तक मुझे डार्क में ही रहना पड़े कि अविनाशी जीवन कैसा होता है और करुणामय प्रभु की कृपालुता कैसी होती है और उनके प्रेम की मधुरता कैसी होती है। इन सब बातों के प्रति अगर आखिर पॉइन्ट तक आदमी को अनजान ही रहना पड़े तो बड़ी बहादुरी की बात होगी कि वह आखिर तक कन्टीन्यू करेगा। तो ऐसा नहीं होता। होता क्या है? कि रास्ते में मैंने देखा है। साधन-काल के बीच में ये बातें होती हैं। क्या होता है कि सत्य जिनके जीवन में अभिव्यक्त हो गया ऐसे अनुभवी संत के पास बैठो तो पता नहीं कब कैसे या तो अपने भीतर अपनी असमर्थता की ग्लानि में अहम् का अभिमान गल गया है या उनके जीवन का जो सत्य है वह अपने को प्रभावित कर देता है और उतनी देर के लिए हम उस वास्तविक जीवन का आनन्द ले लेते हैं। होता है ऐसा। अनेकों साधकों के मुख से मैंने सुना है और स्वयं भी अनेक बार

ऐसा पाया है। तो उस आधार पर मैं निवेदन कर रही थी कि वास्तविक जीवन क्या है? जीवन का सत्य क्या है? उसका आनन्द कैसा है? इसकी झलक अगर अपने को मिल गयी तो वह ही एक सम्बल होता है कि बीच के रास्ते में विविध प्रकार के समाज के बीच रहते हुए और अनेक स्वभाव के लोग, अनेक स्तर के लोग, अनेक प्रकारके कौम्पलीकेशन पैदा करने वाले लोग उन सारे उलझनों के रहते हुए भी साधक अपनी साधना से डगमगाता नहीं है। बड़ी जोरदार जबरदस्त चीज है। यही बात अपने लिए अपने सहारे के रूप में मिल गयी मुझे, प्रारम्भिक दिनों में ही, साधन का आरम्भ ही हुआ था, सत्संग का आरम्भ ही हुआ था।

दो चार साल बीते तो कुछ मिल गया, दो चार साल बीते तो और कुछ मिल गया, दो चार साल बीते तो और कुछ मिल गया। पुराने संस्कार खत्म नहीं हुए इसलिए रह रहकर फिर संसार और शरीर से सम्बन्ध जोड़-जोड़ करके साधन रूपी प्रवृत्तियों में शामिल होना अभी भी चल रहा है। खत्म नहीं हुआ लेकिन कितनी ही कठिनाई आ जाए कितने उलझनों के समूह में पड़ करके मैं उलझ जाऊँ और कितनी भी प्रतिकूलता सामने आ जाए। उस पर से दृष्टि नहीं हटती तो न डर लगता है, न घबराहट होती है, न छोड़कर भागने का कोई पॉइन्ट आता है। कुछ नहीं यह, सारी हल-चल है, यह सारी उथल-पुथल है।

अब क्या जाने मेरे ही चित्त को शुद्ध करने के लिए इतनी प्रकार की प्रतिकूलताएँ, इतनी जटिलताएँ आ गयी हैं। तो थोड़ा धीरज रखो, धीरज रखो वह तो है ना। कोई बात नहीं, सामने काँटों का जाल बुन गया। सामने घोर विरोध दिखाई दे रहा है फिर भी लगता है क्या जाने हमारी ही शुद्धि के लिए आया होगा क्या जाने कौन कैसे कर रहा है? वह तो है ना? तो असली चीज तो वही है, तो यह सब क्या है? यह सब तो भाई बहुत नीचे स्तर की चर्चा मैं करती हूँ। तो साथ में रहने वाले

साधक साधिकाओं से बात करती हूँ तो कोई कहता है बाबा बड़ा झंझट है, भाई बड़ा कठिन है। ऐसे-ऐसे लोगों के साथ निभाना बहुत मुश्किल है। तो जब इस तरह की आवाज कान में सुनायी देती है तो मैं कहती—अच्छा एक बात सुनो जन्म-मरण का प्रश्न तुमने हल नहीं किया तो जन्म-मरण का क्रम बना हुआ है तो वह झंझट नहीं है? जी? है ना? तो हम कहते हैं कि दूसरों पर दृष्टि जाती है, दूसरे-दूसरे लोग ऐसा कठिन बना देते हैं, जटिल बना देते हैं। बड़ा कठिन है लोगों के बीच निभना। तो लोगों के बीच निभना बड़ा कठिन है तो बार-बार जन्म लेना, बार-बार मरना कठिन नहीं है? जी! तो बार-बार जन्म लेना बार-बार मरना इस क्रम को मिटाने में स्वाधीन हो कि अपने डिजायन की सृष्टि बनाने में स्वाधीन हो? बताओ! जब लोग बहुत घबराते हैं, साध्वी जी को भी मैंने बहुत बार सुनाया है, कि रानी देखो तुम्हारे डिजायन की सृष्टि बनेगी नहीं।

तुम चाँय-चाँय माँय-माँय करती रहो, शोरगुल मचाती रहो, अपने को बिगाड़ती रहो हवा को क्षुब्ध करती रहो तुम्हारे डिजायन की सृष्टि बनेगी नहीं। नहीं बनेगी ना। न ही बननी चाहिए और जैसी बनी है, वैसी क्यों बनी है? इसका भी बड़ा भारी विज्ञान है, बड़ा भारी विधान है। मुझको तो कहाँ-कहाँ तक अभी सूझ रहा है, लेकिन सारी बातें एक बैठक में पूरी नहीं होगी, इसलिए उस डिटेल में मैं नहीं जाऊँगी। डटी रहूँगी अपनी जगह पर। और क्या है कि देखो भाई बड़ी विचित्र बात है, आज सबेरे शांति-काल में मुझे बड़ा बढ़िया सा सब दिख रहा था। क्या दिख रहा था कि कहाँ-कहाँ मैंने पढ़ा है, बहुत सुन्दर-सुन्दर "सत्य लोक नारद चले करत राम गुन गान।" तो पहले में पढ़ती थी तो सोचती थी कि पता नहीं वह कैसा होता होगा। क्या होता होगा? लेकिन भाई साधकों और संतों के जीवन में निकट से अनुभव पाने में मुझको साफ दिखाई देता है कि इस छोटी सी आकृति के साथ अपने को जोड़ करके और इसका मोह

लेकर के और एक सीमित व्यक्तित्व का अभिमान लेकर के क्या कूड़ा कचरा अपने चारों ओर इक्ट्ठा कर लिया और उसी में उलझे हैं। उसी में मरे जा रहे हैं, पचे जा रहे हैं।

कभी अभिमान से बीमार हो गए कभी दीनता से बीमार हो गए कभी हार में पागल हो गए, कभी जीत में पागल हो गए। क्या दुर्दशा हो रही है यह। तो यह क्या है? यह तो सारा भ्रम का जाल है, ये सेन्ट परसेन्ट इल्यूजन ही इल्यूजन है और कहीं तो इल्यूजन ही नहीं है कोरा हैल्यूसिलेशन है। इल्यूजन कहते है कि वस्तु जैसी हो वैसी न दिख उससे कुछ भिन्न दिखायी दे, वह इल्यूजन कहलाता है और वस्तु हो ही नहीं और अपने को दिखे तो हैल्यूसिलेशन कहलाता है।

तो इन्द्रिय-दृष्टि और बुद्धि-दृष्टि में जितना जो कुछ सुनने, समझने, दिखने में आ रहा है तो सैन्ट परसैन्ट इल्यूजन हैल्यूसिलेशन है। जीवन का जो सत्य है जिसमें कि दुःख नहीं है, अभाव नहीं है, शरीर और संसार का स्पर्श नहीं है, नीरसता का नाम नहीं है, मृत्यु का नाम नहीं है वह दिव्य लोक न जाने कितना विस्तृत है कितना विस्तृत है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। तो हम लोग तो एक छोटे से गूलर के फल में पैदा होने वाले जीने वाले, मरने वाले कीड़े के समान एक ब्रह्माण्ड के भीतर खुदबुद-खुदबुद कर रहे हैं। और सोच रहे हैं बड़ी भारी बात है।

यह सब कुछ नहीं है भाई। शरीर और संसार का सम्बन्ध मिटा नहीं कि बिल्कुल सिनेमा के चित्रपट बदलने की तरह आपकी आँखों के आगे देखते-देखते अभी एक नगर का दृश्य देख रहे थे, वह हुआ वह हुआ, यह हुआ देखते-देखते उसी कन्टीन्यूएशन में पर्दे पर एक दूसरा उसी प्रोजेक्शन पर एक दूसरा सीन आ गया तो दिखाई दे रहा है, हरा भरा जंगल है, नदी बह रही है, यह हो रहा है, यह हो रहा है। देखते-देखते जैसे वह पट बदल जाता है, ऐसे ही देखते-देखते इस शरीर और संसार

के सम्बन्ध का जो दृश्य है वह यों गायब हो जाता है कि जैसे वह कभी था ही नहीं। यह मैं सिद्ध-जीवन की बात नहीं कर रही हूँ यह मैं साधन-काल की बात कह रही हूँ। और यह मैं साधक के जप-तप का परिणाम नहीं कह रही हूँ, यह अनुभवी संत के पास बैठने का प्रभाव कह रही हूँ। होता है ऐसा।

तो पहले उन सब बातों पर विश्वास जमाने को कौन कहे। कहाँ थी मैं ? इस जीवन की मिट्टी में, धूल में, कीचड़ में, सना हुआ, फँसा हुआ। और संत की कृपा से उनकी कृपा दृष्टि से उनके हृदय की करुणा से, क्या जाने कितने जन्मों तक साधन करने के बाद ये सब चीजें मिलती जो कि उनके पास बैठने में प्रारम्भिक काल में यह सब हो गया। बड़ा जोरदार सम्बल हो गया। होता है ऐसा, सम्भव है ऐसा और सोचने से किसी-किसी समय इतना आनन्द आता है। मैं कहती हूँ कि सत्य क्या है ? वह जीवन क्या है ? जीवन की सच्चाई जोकि कभी मिटेगी नहीं सदैव रहेगी वह क्या है ? और इन आँखों से तादात्म्य जोड़ करके मैं देख क्या रही हूँ ? कहाँ फँसे हैं ? क्या दुर्दशा हो गयी है।

छोटी-छोटी सी बात के लिए सत्य से विचलित हो जाना धर्म से विचलित हो जाना, साधन से खिसक जाना, स्टैण्ड से नीचे उतर जाना। और बड़े-बड़े बुद्धिमान बातचीत करते हैं तो कहते है कि हाँ बहन जी, बात तो ठीक है, लेकिन भाई आपको पता नहीं है, हम दुनिया के बाजार में रहते हैं। वहाँ जाकर देखो तो क्या हाल है ? अरे क्या हाल है ? बाबा क्या हाल है ? दुनिया के बाजार को बनाए रखना कोई जीवन का लक्ष्य है क्या ? जी ? व्यवहार में प्रवेश करो तो आपको पता चले कि क्या हाल है ? पुराने शरीर के सम्बन्ध से नाते रिश्ते लोग हैं अगर उनके सामने कोई ज्ञान की बात कह दो, अपनी ओर से मैं कभी किसी को नहीं कहती हूँ।

लेकिन जब आकर के वे लोग हमको दुखड़ा सुनाने लगती हैं। बुआ की लड़कियाँ हैं, फुफेरी बहनें हैं पाँच हैं और भोजाइयाँ है। बहुत सम्बन्ध के रिश्तेदार तो होते ही हैं और ऐसे ही परिवार बहुत लम्बा चौड़ा था। तो कोई कुछ आकर कहे, कोई कुछ आकर कहे और जब मैं सहज से कहती हूँ कि भई ऐसा करो। तो कहेगी हाँ तुम क्यों नहीं कहोगी तुमको क्या पता है? तुमने दुनिया बसा के देखा है क्या ? तो दुनिया बसा के देखना जिन लोगों ने किया है? अरे मैंने इस जन्म में नहीं बसाया, कितने जन्मों में बसा के कितना दुःख पाया होगा कुछ ठिकाना है? लेकिन आप भाई-बहन जो बैठे हैं जिन्होंने घर गृहस्थी बसा कर देखा है। मैं पूछती हूँ कि जीवन का सार मिला उसमें? फिर उसी के लिए अपने को अटकाना और यह कहना कि भाई दुनिया के बाजार में चलो तो पता चले। संत कबीर को सूझा तो सबको ललकारने लगे।

"कबीरा खड़ा बजार में, लिए लकुटिया हाथ
जो घर जारै आपना सो चले हमारे साथ।"

चलो आओ! उजाड़ कर देखो तो पता चले कि क्या बात है। बहुत बड़ी बात है, बहुत बढ़िया बात है। किसी को नहीं डरना चाहिये। किसी को नहीं घबराना चाहिये। केवल हमारी बहादुरी से कुछ नहीं होता है। कितने जन्म हो गए रोग में, शोक में, वियोग में तड़पते हुए कोई एक बार का रोना थोड़े ही है। कितनी बार रो चुके हैं, प्रिय जनों के वियोग में। कोई पहली बार का काम यह थोड़े ही हो रहा है। बहुत बार हो चुका है। कितनी बार क्रोधित हुए, कितनी बार क्षुभित हुए, कितनी बार वियोग में पड़े। कितनी बार मर चुके कितनी बार पैदा हो चुके अब यही क्रम लगा रहेगा? इसी को चलाते रहोगे? इसी को निभाने के लिए उस वास्तविक जीवन के प्रकाश को, आनन्द की अनुभूति को छोड़ दोगे? बड़ी बुद्धिमानी है? कभी किसी साधक को हार नहीं मानना चाहिए। एक क्षण

पहले तक अगर दस भूलें मैंने की और इस वर्तमान क्षण प्रभु की याद आ गयी, वास्तविक जीवन की याद आ गयी, उस दिव्य लोक के साम्राज्य की याद आ गयी, काम हो गया। कोई हमको ढोना ही थोड़े न पड़ेगा। अरे बिना भाई-बाप के हैं हम लोग? अनाथ हैं? कोई मालिक है कि नहीं है अपना? अनाथ नहीं है। जो है बड़ा सामर्थ्यवान है, जो है वह परम पवित्र है। उसके स्मरण मात्र से सब भूलें मिट सकती है। उसकी कृपा दृष्टि से पाप का पहाड़ गल सकता है। उसमें क्यों डरेंगे? अब शांत हो जाइए।

●

प्रवचन 8

उपस्थित महानुभाव सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सब लोग साधक के जीवन की समस्याओं पर विचार कर रहे हैं। दिखाई देने वाले जगत् के साथ हम क्या करें ? सुने हुए प्रभु के साथ हम क्या करें ? सुने हुए प्रभु के सम्बन्ध में अनुभवी संत की वाणी हम सुन रहे थे, उसमें उन्होंने यह बताया कि नित्य विद्यमान परमात्मा के उपस्थित होने का जो आनन्द है और उसके प्रेम स्वरूप से अभिन्न होने की जो सरसता है, इसका अनुभव व्यक्ति को कैसे होगा ? उत्तर बताया कि परमात्मा से अभिन्न होने का उपाय है—उनको अपना मानना।

हम सब लोगों ने भगवत-भक्ति के रूप में बहुत सुना है कि भाई भजन करो, भजन करो, प्रभु का नाम लो, तो भजन शब्द का अर्थ महाराज जी ने बताया-प्रियता, परमात्मा के प्रति हमारे हृदय में प्रियता हो, उस प्रियता को भजन कहते हैं ? मैंने ऐसा सुना कि भजन से भगवान को आनन्द मिलता है। भजन उसको कहते हैं जिससे कि जिसका भजन हम कर रहे हैं, वह आनन्दित हो, उसको प्रसन्नता मिले तो ऐसा भजन शारीरिक क्रियाओं के आधार पर नहीं होता है।

भजन का असली अर्थ बताया महाराज जी ने प्रियता। तो परमात्मा कैसे मुझको प्रिय लगे। प्रियता के भाव का अर्थ है भजन। प्रियता कैसे जगती है ? अब अभी आप सोच करके देख लीजिए कि बहुत से लोग बैठे हैं। रेलवे स्टेशन पर, प्लेट फार्म पर और किसी जगह पर और किसी सभा-सम्मेलन में बहुत से लोग बैठे हों, उसके बीच में एक दो व्यक्ति ऐसे भी हों, जिनको कि आपने अपना माना है। थोड़ी-थोड़ी देर में ध्यान उन पर जाएगा जिनको कि आपने अपना माना है और उनकी उपस्थिति से आपके भीतर एक प्रकार का हर्ष का संचार होता रहेगा कि जिनको आपने अपना माना है।

संसार के व्यक्तियों को अपना मानना यह नित्य सम्बन्ध नहीं है। परन्तु साधन रूप सम्बन्ध बना सकते हें। आसक्ति पैदा करने वाली बात तो भूल है लेकिन माने हुए सम्बन्धियों के सम्बन्ध को साधन रूप बनाया जा सकता है, जिससे कि हम अपनी आसक्ति को मिटा सकें, अशुद्धि को मिटा सके। लेकिन यह माना हुआ सम्बन्ध जो है व्यक्तियों के साथ तो सदा के लिए निभने वाला नहीं है। थोड़े दिन के लिए संयोग बन गया वह बुद्धिमान लोग क्या करते हैं? कि थोड़े दिनों के लिए जिन व्यक्तियों से सम्बन्ध बन गया है, पता नहीं वह कब बिछुड़ जाए तो इस बीच में समझदार लोग उस माने हुए सम्बन्ध को साधन-रूप बनाकर जल्दी-जल्दी जो आदर, प्यार, सम्मान, सेवा, देने की है वह देकर के सम्बन्ध की आसक्ति से मुक्त हो जाते हैं लेकिन वह सदा के लिए रहने वाला नहीं होता है। परमात्मा के साथ जो सम्बन्ध है वह मेरे मानने से बन जाता हो और न मानने से बिगड़ जाता हो, ऐसा नहीं होता। यह अन्तर है उसमें।

व्यक्तियों के साथ माना हुआ सम्बन्ध मानो तो बना रहेगा और मानना छोड़ दो तो बिगड़ जाएगा। ऐसा होता है। ऐसा इस जगत् में समाज में आपने अनेक बार देखा है। जब तक मानते रहो तब तक सम्बन्ध का प्रभाव रहता है और सम्बन्ध मानना छोड़ दो तो प्रभाव मिट जाता है। लेकिन मनुष्य के जीवन में परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना और उनके साथ अपने आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार करना ऐसा नहीं है कि मेरे मानने से बन जाता है और न मानने से बिगड़ जाता हो।

ऐसा नहीं है, कैसा है वह? कि उनकी ओर से मेरे साथ जो नित्य सम्बन्ध है वह तो कभी टूटता ही नहीं है। परमात्मा कभी किसी प्राणी को अपने से अलग करते ही नहीं है और हम लोगों को वे कभी भूलते ही नहीं है। तो वे सदा ही याद रखते हैं। वे सदा ही भीतर-बाहर विद्यमान रहते हैं। वे सदा ही हम लोगों को अपना करके मानते ही हैं, जानते ही

हैं। अन्तर क्या होता है, अन्तर होता है मेरी ओर से। मैंने देह-बुद्धि से जीवन को देखा और जगत् के सम्पर्क से सुख भोगने में अपने को लगाया तो उस नित्य सम्बन्धी की ओर से विमुखता हो गयी। उसकी विस्मृति हो गयी मेरी ओर से। सत्संग के प्रभाव से संत की वाणी का आदर करके, वेद-वाक्यों को आदर करके, भागवत्, पुराण, रामायण, गीता आदि के वाक्यों का आदर करके यदि मैंने परमात्मा को अपना करके स्वीकार किया तो इस सत्य की स्वीकृति के प्रभाव से हमारे अपने ही अहम् रूपी अणु में परिवर्तन आरम्भ होता है।

आज की दशा कैसी है? तो आज की दशा ऐसी है कि आँखें खोलकर देखो तो विविध रूप जगत् दिखाई देता है। और आँखें बन्द कर लो तो घोर अंधकार हो जाता है। ठीक है। जी? यह दशा है आज की। लेकिन उस अविनाशी, अनादि, अनन्त, नित्य विद्यमान, अनन्त माधुर्यवान परमात्मा को अपना मानो, तो अपना मानने ही से अपने ही में इतना परिवर्तन हो जाता है कि आँखें खोलकर देखों तो 'जित देखो तित तू ही तू'। जहाँ देखो वहाँ वही दिखाई देता है। जित देखो तित श्याममयी है। जहाँ देखे तहाँ वही दिखाई देता है। और आँखें बन्द करो तो भीतर भी वही विद्यमान है और खोल के देखो तो जगत् के विभिन्न रूपों में विभिन्न आकृतियों में सत्ता रूप से वह अपना प्रेमास्पद ही विद्यमान है। ऐसा दिखने लग जाता है। बाहर से मुख मोड़ लो, अंतरमुख हो जाओ, आँखें बन्द कर लो, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्ध तोड़ लो, शरीर और संसार से असंग हो जाओ, तो अपने में वह ही विद्यमान है, वह ही दिखता है। उसी का दर्शन होता है, उसी से मिलन होता है। उसी में अपना अहम् समाहित हो जाता है।

यह जीवन का सत्य है। प्रारम्भ में जब मुझे ईश्वरवाद की चर्चा सुनायी गयी और मनुष्य के जीवन में विकास के लिए, दुःखों की निवृत्ति

के लिए यह एक अनिवार्य तत्त्व है, ऐसा मैंने सुना तो जैसी अपनी पुरानी आदत थी, वैज्ञानिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर इसकी व्याख्या मैं खोज़ने लगी कि जो दिखता है वह क्या है? जिसका आभास मिलता है वह क्या है? जिसके आकर्षण में व्यक्ति सारी सृष्टि को धूल के समान नगण्य मानने लग जाता है वह क्या है? बहुत से प्रश्न पैदा हुए और मैंने खूब सोचा-विचारा और केवल सोचने-विचारने की बात नहीं है। संत ने उस सत्य से अभिन्न होने के लिए जो प्रयोग बताया उस प्रयोग को भी मैंने करना पसंद किया। करके देखो क्या होता है? क्योंकि जो स्थूल जगत् के आधार पर वैज्ञानिक अध्ययन किए जाते हैं, उनमें प्रयोगों का बहुत महत्त्व बताया जाता है। भई जो भी प्रश्न तुम्हारे सामने है? उसका उत्तर जो तुम्हारे सामने आ रहा है, उसको करके देखो। सही निकले तो सही नहीं तो फिर दूसरा खोजना। तो इस तरह की एक पृष्ठभूमि बनी हुई थी।

संत की वाणी को सुन करके सोचना-विचारना भी हुआ और उसमें से जो कुछ अपने प्रयोग में लेने के लायक हुआ, अपनी हैसियत के अनुसार तो प्रयोग करने का मौका भी आया उन सारी बातों के आधार पर आज अपने भाई-बहनों के सामने बड़े ही दृढ़ विश्वास के साथ यह बात निवेदन कर रही हूँ मैं कि इसमें जरा भी संदेह नहीं रखना चाहिए। वर्तमान दशा को देखकर सत्य के परिणाम में अविश्वास नहीं करना चाहिए। वर्तमान दशा क्या है? तो वर्तमान दशा यह है कि बनने-बिगड़ने वाला संसार सत्य मालूम होता है, ठोस मालूम होता है, पकड़ में आने वाला मालूम होता है।

यह वर्तमान दशा है और नित्य विद्यमान परमात्मा अत्यन्त रहस्यमय मालूम होता है, छिपा हुआ मालूम होता है, और रह रहके उसके सम्बन्ध में संदेह भी उठता रहता है। क्या जाने है कि नहीं है? क्या जाने किसी

को मिलता भी है कि नहीं है। यह वर्तमान दशा है। तो इस वर्तमान दशा को देख करके हम लोगों को संत की वाणी में संदेह नहीं करना चाहिए। वेद के वाक्यों में संदेह नहीं करना चाहिए।

एक सज्जन एक बार बड़ी अच्छी बात कह रहे थे। मैं सुन रही थी, कहने लगे कि देखो तो भला अगर दुनिया में कोई बात पक्की करानी होती है तो पाँच पंचों को बैठा लिया जाता है। नगर के पाँच प्रतिष्ठित व्यक्तियों को बुलाकर बैठा लेते हैं और कहते हैं कि देखो पाँच पंच के सामने यह बात मैं स्वीकार करता हूँ। तो सब लोग मान लेते हैं कि यह आदमी अपने वचन पर दृढ़ रहेगा। क्योंकि उसने पाँच पंच के बीच में कह दिया है और सोचो तो भला! अठारह अक्षौहिणी सेना के लोग खड़े हैं। और उस बीच में खड़े होकर श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि जो मेरी शरण में आ जाता है, उसके कुशल-क्षेम का मैं वहन करता हूँ। तो पाँच पंच के बीच में कही हुई बात आदमी नहीं बदलता है, तो बड़े जन समूह के बीच में कही हुई बात कृष्ण भगवान बदल देंगे? बहुत मजा आया सुनकर के बहुत अच्छा लगा, मैंने सोचा कि इस आदमी ने दलील तो अच्छी निकाली। सो नहीं बदल देंगे। उन्होंने मनुष्य के साथ अपना जो सम्बन्ध बताया है, उस पर वे अडिग रहते हैं। शरण में आए हुए के कुशल-क्षेम के वहन करने की प्रतिज्ञा उन्होंने जो मनुष्यों के प्रति की है, उसको वे कभी नहीं बदलते हैं, कभी नहीं छोड़ते हैं। अपने को भ्रम हो गया है तो भ्रम के समय में भ्रमित काल का जो अपना अनुभव है, उसके आधार पर सत्य में सन्देह कभी नहीं करना चाहिए। परमात्मा के सम्बन्ध में सन्देह कभी नहीं करना चाहिये।

गुरु की वाणी में सन्देह कभी नहीं करना चाहिए। वेद, पुराण, गीता, रामायण के वाक्यों में सन्देह कभी नहीं करना चाहिए। क्या करना होगा? आज आप अपनी ओर देखते हैं तो शरीर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसा

क्यों लगता है अपने को ? क्योंकि स्थूल स्तर से, इन्द्रिय-दृष्टि से जीवन को देख रहे हैं। तो इन्द्रिय-दृष्टि से देखेंगे तो स्थूल जगत् ही दिखायी देगा और क्या दिखेगा ? पाँचभौतिक तत्त्वों से बनी हुइ इन्द्रियाँ हैं और पाँचभौतिक तत्त्वों से बना हुआ जगत् है। तो जिस जाति का जो औजार है, उससे वही दिखेगा।

भौतिक तत्त्वों से बनी हुई इन्द्रियों के द्वारा भौतिक तत्त्व का ही दर्शन होगा, अलौकिक का दर्शन नहीं होगा। तो आज अपनी दशा क्या है ? तो आज अपनी ओर देखो तो मालूम होता है कि ठोस शरीर ही तो सत्य लगता है। कहाँ है परमात्मा, उसका तो कहीं पता ही नहीं चला। तो इन्द्रिय-दृष्टि के स्तर से जीवन को देखना यह अधूरा देखना है। यह एक स्थूल दृष्टिकोण है। इसके फैसले पर विश्वास मत करो इन्द्रिय-दृष्टि से देखे हुए को अन्तिम बात मत मानो। क्यों ? क्योंकि जब इन्द्रियों से सम्बन्ध तोड़ लिया जाता है, स्थूल जगत् गायब हो जाता है। खत्म हो जाता है।

आँखें नहीं रहीं तो दृश्य जगत् गायब हो गया, कान में सुनने की शक्ति नहीं रही तो ध्वनि जगत् गायब हो गया, नाक में सूँघने की शक्ति नहीं रही तो गंध का अनुभव खत्म हो गया, चमड़े में स्पर्श करने की शक्ति नहीं रही तो उसकी सारी अनुभूतियाँ खत्म हो गयी। तो जो इन्द्रियों के स्तर पर आपको सत्य मालूम होता है, उसी पर विचार करेंगे तो बुद्धि के स्तर पर उसमें निरन्तर परिवर्तन दिखाई देगा। और इसी को देख करके, निर्माण में विनाश का दर्शन करके संत कबीर ने हम लोगों को सुनाया। क्या सुनाया ? उन्होंने कहा—

"हाड़ जले जैसे लाकड़ी, केस जले जैसे घास,
सब जग जलता देखकर, कबिरा भया उदास।"

यह कौन-सी दृष्टि है ? तो यह इन्द्रियों के ऊपर की दृष्टि है। यह बुद्धि की दृष्टि है जिस दृष्टि से देखने पर सारे जगत् में निर्माण के साथ-साथ विनाश का क्रम दिखायी देता है। इसलिए मैं आप भाई-बहनों से निवेदन कर रही हूँ कि वर्तमान दशा में आपको इन्द्रिय-दृष्टि से जो कुछ दिखायी देता है, उसको अन्तिम फैसला मत मानिए। सत्य की स्वीकृति के प्रभाव के लिए आप उसका प्रयोग कीजिए। उस प्रयोग में क्या मिलेगा कि जिस दिन से आपने उत्पत्ति-विनाशयुक्त सृष्टि का सहारा अपने लिए छोड़ दिया, जिस दिन से आपने बिना देखे बिना जाने परमात्मा को अपने जीवन का आश्रय बना लिया, उसी दिन से अहम् रूपी अणु में परिवर्तन मालूम होता है। उस परिवर्तन का यह परिणाम होगा कि आज संसार आपको जैसा दिख रहा है, आगे वैसा नहीं दिखेगा।

आज निर्माण और विनाश के क्रम में सुख-बुद्धि और सद्बुद्धि बन गयी है, यह बदल जाएगी। इसमें सुख-बुद्धि नहीं रहेगी। फिर क्या होगा ? किस जिस नित्य विद्यमान को, बिना देखे बिना जाने आपने अपना कहकर स्वीकार किया है, वह बिना देखा हुआ आगे चल करके देखा हुआ हो जाएगा। बिना जाना हुआ, आगे चल करके जाना हुआ हो जाएगा। और आज साधन के प्रारम्भ में जो अत्यन्त रहस्यमय मालूम होता है, वह इतना प्रत्यक्ष हो जाएगा और उसका प्रत्यक्ष होना, इतना व्यापक प्रभाव वाला होता है कि सिवाय उसके और दूसरा कोई दिखेगा ही नहीं। ऐसा होता है तो आप कहेंगे कि आज छिप क्यों गया ? तो मैं कहूँगी कि वह छिपा नहीं है। स्वामी जी महाराज ने मेरे संदेह की निवृत्ति के लिए अनेक प्रकार की युक्तियों को मेरे सामने रखा तो उन्होंने यह कहा कि तुम सोचो तो सही ? कि एक सृष्टि की तो कौन कहे, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जिसके एक अंश में है। आपने सुना है ना ? जी सुना है। रामचरित मानस में गोस्वामी जी ने लिखा है—

"दिखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड।
रोम-रोम प्रति लागे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड ॥

एक-एक रोम पर करोड़ों ब्रह्माण्ड आश्रित है जिसके, वह छिपेगा कहाँ ? सोचो ? तो इतना विस्तार है, इतना विस्तार है कि जिसके एक अंश में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड समा जाए, उस इतने विस्तृत, असीम, अनन्त, विशाल को तुम कहते हो कि छिप गया ? कहाँ छिपेगा भाई ? छोटा-सा हो, सृष्टि से छोटा होगा तो सृष्टि में छिपेगा।

जो इतना विशाल है, इतना विशाल है, असीम अनन्त है कि जिसके एक अंश में करोड़ों करोड़ों ब्रह्मांड समा जाएँ, उसके लिए हम सोचते हैं कि छिप गया तो वह कहाँ छिपेगा ? छोटा है कि कहीं समा जायेगा ? तो वह कहीं नहीं छिपता है, वह जहाँ के तहाँ ज्यों के त्यों अपने असीम, अनन्त अपनी महिमा में आप अभिभूत जैसे के तैसे विद्यमान है। उसके छिपने के लायक कोई जगत् है नही। उसको छिपाने के लायक उससे बड़ी वस्तु चाहिए, जी ! समझ में आता है ? तो उससे बड़ा कुछ है क्या ? नहीं है। इसलिए वह छिपेगा कहाँ ? वह छिपा नहीं है। बड़ा दुःख होता है, मुझे जब कभी मैं सोचती हूँ कि हाय मैंने क्या किया ? जीवन की अनमोल घड़ियों को कैसी दशा में बिता दिया। बड़ा दुःख होता है सोचने से कि ऐसे अनन्त माधुर्य, से अपनी मधुरिमा की गोद से किसी भी प्राणी को बाहर निकालते ही नहीं है।

छोटे से छोटे कीट पतंग भी उनके अनंत माधुर्य के भीतर समा जाते हैं। वे अपने प्रेम के रस से सबका पालन-पोषण करते हैं ? सबको अपना करके जानते हैं। ऐसे के रहते हुए अगर अनाथ बन करके एक क्षण भी दुःख में बिताया तो वह क्षण मेरा बेकार गया। आज अगर प्रेम स्वरूप परमात्मा मेरे भीतर बाहर सब तरफ विद्यमान होकर अपने प्रेम-रस से मुझको सींचता हुआ मेरे अनुभव में नहीं आता है तो इसका अर्थ यह है मैंने अपनी आँखों पर जड़ता का पर्दा डाल दिया है। जड़ता का घोर अंधकार है। मेरे पास आँखें ही नहीं है कि उस अनन्त, असीम, विशाल की उपस्थिति का अपने को पता चले। हृदय का दरवाजा मैंने बन्द कर

दिया है। इतनी संकीर्णता, इतनी स्वार्थपरता, भर ली है कि जिससे वह इतना कठोर हो गया कि उसमें प्रेमस्वरूप परमात्मा की ओर से जो प्रेम की लहरियाँ आ रही हैं, के कारण हृदय की जड़ता और कठोरता उसमें उस प्रेम का स्पंदन हो ही नहीं रहा है। टकरा-टकरा करके वापस जा रही है, प्रेम की लहरियाँ। उधर से कोई कमी नहीं है। उधर से रस बरस रहा है।

यहाँ दरवाजा बन्द है। जड़ता की कठोरता की दिवाल सख्त होकर के हृदय को वज्र बना करके रखा है, तो यह मेरी भूल है। सुख-भोग की तृष्णाओं में हृदय की सारी कोमलता सूख गयी, सब सरसता सूख गयी। शुष्कता और कठोरता में वह सैन्सटिविटी नहीं है कि उधर से प्रेमस्वरूप की ओर से अनन्त कृपालु की ओर से जो प्रेम बरस रहा है, कृपा बरस रही है, उसके स्पर्श से इसके भीतर कोई स्पंदन पैदा हो, ऐसी सैन्सटीविटी खत्म हो गयी। ऐसी संवेदनशीलता खत्म हो गयी। तब क्या हो रहा है? तो भीतर में शुष्कता, नीरसता, जड़ता कठोरता भरी है और उससे जब आदमी व्याकुल होता है तो बाहर-बाहर खोजता है, दौड़ता फिरता है संसार में। कौन मेरा आदर करे, कौन मुझको सन्मान पूर्वक शब्द सुनाए, कौन मुझसे मीठी बोली बोले, कौन मेरी सहायता करे, कौन मेरे सूखे जीवन को सरस बनाए।

जब मेरी समझ में यह बात आयी तो आँखों के सामने से अंधकार मिट गया। पर्दा जैसे हट गया। मैंने कहा कि यह तो बड़ी भारी भूल हो गयी। आँखों पर पट्टी बाँध लो, तो काला घना अंधकार और उसके बाद कहो कि सूर्य का तो प्रकाश ही नहीं है अंधकार है। तो इसमें यह बात नहीं है कि सूर्य छिप गया है। यह बात नहीं है, कि उसकी किरण लुप्त हो गयी। यह बात नहीं है कि उनका प्रकाश मिट गया। सो नहीं।

वे तो ज्यों के त्यों जैसे के तैसे, जहाँ के तहाँ विद्यमान ही हैं। और सदा-सदा के लिए रहने ही वाला है। संत की कृपा से जब अपनी आँखों

से अविश्वास का पर्दा हट जाए, संदेह का पर्दा हट जाए, जड़ता की दीवार टूट जाए तो ज्यों का त्यों जहाँ के तहाँ विद्यमान उस अनन्त परमात्मा के दर्शन का, उनके स्पर्श का, उनकी मधुरता का, उनकी सरसता का अनुभव आपको ऐसा सराबोर कर देगा कि उसके बाद अपनेपन का भी कोई भास शेष नहीं रहता है। यह है इस जीवन का रहस्य। आरम्भ कहाँ से करें? पिछली दो बैठकों से यह चर्चा हो रही है। आरम्भ कहाँ से करे? तो आरम्भ करने के लिए आप बिल्कुल निर्भय, निश्चिन्त होकर के परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कीजिए। उनको अपना मानिए। सारी सृष्टि उनकी है, ऐसा जानिए उन्हीं की दी हुई शक्ति के द्वारा उन्हीं की सृष्टि की सेवा में जो सहयोग लगा सकते हैं लगाइए और उसका अर्थ अपने लिए रखिए कि परम प्रेमास्पद प्रभु को प्रसन्नता होगी।

हमारे महाराज जी ने देह के अभिमान-काल में साधक के लिए बड़ी अच्छी साधना बतायी कि भाई देह का आभास तुम्हारा जब तक बना हुआ है, तब तक छोटा-सा छोटा कार्य करके तुम प्रभु की प्रसन्नता का अर्थ लेकर चलो तो देह की आसक्ति भी मिट जाएगी और उसकी प्रसन्नता जब तुम्हारे जीवन का स्पर्श करेगी तो तुम जहाँ हो वहीं पर उस अनन्त रहस्यमय का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाएगा, मिलना हो जाएगा, अभिन्नता हो जाएगी। सदा के लिए तुम और वे एक हो जाएँगे, ऐसा उन्होंने सुनाया। बहुत छोटी-छोटी बातों का उदाहरण महाराज जी कहते कि देखो अगर किसी को प्यास लगी है, और तुम्हारे हाथ में बल है अपने आस-पास में परिपार्श्व में जल है, तो प्रेम पूर्वक प्रभु को अर्पण करने के समान आदर और प्रियता के भाव से प्यासे शरीर को एक गिलास जल अर्पण कर दो तो जल तो जाकर के उसके पेट की थैली में रह जाएगा, परन्तु तुमने जिस प्रेम से प्रभु की प्रियता के लिए जल पिलाया तो तुम्हारे हृदय का वह प्रेम-भाव भौतिक सीमाओं को तोड़ता हुआ, अलौकिक परमात्मा तक पहुँच

जाएगा। उससे तुम्हारे चित्त में जो शुद्धि आएगी, उससे तुम्हारे हृदय में जो कोमलता आएगी, उस आधार पर तुम अनन्त परमात्मा के प्रेम के लहरियों का अनुभव कर सकोगे। तुम्हारे भीतर वह प्रेम-भाव स्पंदित होगा, उनके और तुम्हारे बीच की दूरी का नाश होगा। इतना महत्त्व है। इस प्रकार से भजन के तीन रूप बताए महाराज जी ने सेवा-त्याग और प्रेम। सेवा करते समय इस भाव से सेवा करो कि अनेक रूपों में मेरे प्यारे ही तो है। इसलिए उनकी सेवा में विद्यमान वर्तमान प्राप्त सामर्थ्य को लगाओ तो उसके अर्थ में इस बात का ध्यान रहे कि मेरी इस छोटी-सी सेवा के बदले में प्रभु को बड़ी से बड़ी प्रसन्नता होगी। वे आनन्दित होंगे कि उनकी सृष्टि में मैंने कुछ सेवा कार्य किया।

त्याग का अर्थ क्या है? कि जिस जगत् की सेवा करो उससे भी कुछ मत माँगो और जिस प्रभु के प्रेमी बनो, उससे भी कुछ मत माँगो तो त्याग हो गया और प्रभु को अपना मानने के फलस्वरूप हृदय में जो अपनेपन का भाव उपजे, वह उनको अर्पण करते रहो तो यह प्रेम हो गया। भजन जो है वह तो प्रभु के प्रति अगाध प्रियता का नाम है और उस प्रियता में सेवा तथा त्याग से सहयोग मिलता है। तो सेवा भी भजन का एक रूप है। त्याग भी भजन का एक रूप है और असली अर्थ है प्रभु के प्रति आत्मीय सम्बन्ध। आत्मीयता के सम्बन्ध से भजन की अभिव्यक्ति होती है सेवा और त्याग से भजन की पुष्टि होती है। इस अर्थ में महाराज जी ने कहा कि भगवत्-भजन तो मानव का जीवन है। ऐसा थोड़े कि चौबीस घण्टे में से हमने प्रोग्राम बना लिया कि आधा घण्टा भजन करेंगे हम। तो आधा घण्टा भजन करोगे तो बाकी साढ़े तेईस घण्टे क्या करोगे? भजन तो खण्डित हो गया। सो नहीं, ऐसा नहीं। प्रभु के आत्मीय सम्बन्ध से जाग्रत प्रियता जो है, वह थोड़ी-थोड़ी देर में उनकी याद दिलाती रहेगी और साधक के जीवन में भगवत्-स्मृति का जाग्रत हो जाना भजन है।

ऐसा भजन अखण्ड रूप से चलता है। जो काम करो वह प्रभु की पूजा, जो घटना हो रही है, वह प्रभु की लीला। और क्षण-क्षण में उनकी याद आ रही है, प्रियता उपज रही है, इसका नाम भजन है। और ऐसा भजन हर घरबारी सामाजिक व्यक्ति, समाज का काम करने वाला, घर गृहस्थी को संचालन करने वाला हर भाई, हर बहन इस प्रकार का भजन कर सकते हैं। जब चाहें तब कर सकते हैं। पूरे समय के लिए जीवन को उनके समर्पित करके उन्हीं की दी हुई शक्ति से उन्हीं का दिया हुआ काम करें और उसके बदले में उनके प्रेम की प्रतीक्षा में रहें। तो काम करें तो उनकी पूजा और घटना देखें तो उनकी लीला और शांत हो जाएँ तो उनकी स्मृति।

यह भजन कभी खण्डित होगा? जी नहीं होगा। बड़ी भारी भूल है, कि हम लोग सोचते हैं कि क्या बताएँ आज का जीवन इतना व्यस्त हो गया कि भजन के लिए समय ही नहीं मिलता है। तो भजन के लिए समय नहीं मिलता है तो मिला हुआ समय कहाँ जाता है भाई! क्या कर रहे हो? ऐसा नहीं है कि दैनिक जीवन का जो रुटीन है, भजन उससे कुछ भिन्न अलग की बात होती हो, सो नहीं होती है। एक साधक की घटना महाराज जी ने हम लोगों को सुनायी थी। मुझे बहुत अच्छी लगती है। कभी-कभी सुनाया करती हूँ। गुरु-शिष्य दो जने थे, बड़े अनुरागी थे। भगवान के भक्त थे। एक-दूसरे में बड़ा प्रेम था। गुरु महाराज के लिए सबेरे-सबेरे उठकर शिष्य देवता जो थे किसी नदी के पास रहते थे। गंगा जी का ही तट होगा। तो एक बड़ा-सा जल का पात्र लोटा लेकर शिष्य जाते थे।

गंगा जी के तट पर और खूब उसको बालू से मिट्टी से माँज करके एकदम चमाचम साफ करके गंगा-जल भर कर ले आते थे। गुरु महाराज

जब ब्रह्म मुर्हूत की साधना से उठते तो उसी जल से वे आँख-मुँह धोते। इसके लिए वे शिष्य तैयारी करके रखते थे। बड़ी प्रियता थी शिष्य में, गुरु के प्रति। भगवान के प्रति और गुरु महाराज जी सेवा का कार्य करने में उनको बड़ा आनन्द आता था। मैं सेवा की महिमा आपको बता रही हूँ। एक दिन की घटना है यह कथा-कहानी नहीं है। यह सच्ची घटना है। एक दिन की घटना है कि शिष्य सबेरे-सबेरे उठ करके जल का पात्र लेकर पहुँच गए गंगा जी के पास और उसको माँजने लगे बालू-मिट्टी लगा करके लोटा साफ करने लगे। तो गुरु महाराज की सेवा में इतनी प्रियता है उनको, इस बात से परम प्रेमास्पद प्रभु को बड़ी प्रसन्नता है। और जब उधर से प्रसन्नता की लहर आयी तो साधक के भीतर इतना आनन्द इतना प्रेम भर गया कि बाहर से तो हाथ चल रहा है, लोटे को रगड़ रहे हैं और भीतर प्रेम के अतिरेक में अपने आप में मस्त है। इतनी प्रसन्नता छा गयी, इतनी प्रसन्नता छा गयी कि बाहर की क्रिया का उनको याद ही नहीं रहा। बहुत समय बीत गया। उधर गुरु महाराज हाथ धोने के लिए बैठे हैं, दूसरे-दूसरे शिष्य लोग जल लाने को भी तैयार है। लेकिन गुरु महाराज को उस शिष्य का लाया हुआ जल इतना प्रिय है कि उसी की प्रतीक्षा में बैठे रहे। अच्छा जाओ अब आ रहा होगा, अब आ रहा होगा। बहुत देर होने लगी तो दो-चार लोग दौड़े कि चल के देखो तो क्या कर रहा है? आ ही नहीं रहा है क्या बात हैं? पहुँच गए वहाँ, तो देख रहे हैं कि वह आनन्द की मस्ती मैं आप मस्त हो गया है और हाथ जो है लोटे के चारों ओर बालू-मिट्टी के साथ घूम रहा है। माँजना जो शुरू किया, माँजता ही रह गया। क्रिया ही होकर रह गयी। प्रेम के अतिरेक में वह बाहर का सब संसार भूल गया।

इतना आनन्द! तो क्या हो गया? शरीर-धर्म से ऊपर उठ गया। किस लिए? सेवा की प्रियता में। तो गुरु की सेवा के प्रति उसकी जो

निष्ठा है, वह निष्ठा परमात्मा को पसंद आ गयी और प्रेमपूर्वक सेवा की कृति देख करके परमात्मा का आनन्द उसके हृदय में भर गया तो अब शरीर का भास किसको है? ऐसा भजन। तो आप क्या कहेंगे? लोटा माँज रहा है, जल भर रहा है कि असली भजन कर रहा है? जी? असली भजन हो रहा है। इस प्रकार का भजन, इस प्रकार का पूजन, इस प्रकार का प्रक्टीकल ईश्वरीय प्रेम जो कि रोम-रोम में भर जाए, हर क्रिया को सरस बना दे, हर प्रवृत्ति को पूजा बना दे, हर क्षण में अपने प्यारे की स्मृति को जगा दे। ऐसा जीवन हम भाई-बहनों का हो सकता है। इसी वर्तमान में हो सकता है, इसी कलिकाल में हो सकता है। अमीरी और गरीबी में हो सकता है। आरोग्य और बीमारी में हो सकता है। क्योंकि शरीर से इस भजन का कोई सम्बन्ध नहीं है, वह स्वधर्म है। भगवत्-भजन जो है वह स्वधर्म है और प्रभु को अपना मानने से इसका आरम्भ होता है और प्रभु जब अपनी ओर से अपना रस साधक के जीवन में भर देते हैं तो यह भजन पूरा हो जाता है।

●

प्रवचन 9

पूज्य सन्त महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सब लोग मानव-जीवन के तथ्यों पर विचार कर रहे है। एक बहुत ही प्रत्यक्ष सत्य है कि वस्तुतः इस दृश्य जगत् में कुछ भी अपना व्यक्तिगत नहीं है। जो कुछ अपने पास मिला हुआ सा मालूम होता है वह सब किसी का दिया हुआ है, किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिला है, प्राप्त नहीं है। फिर भी एक बड़ी भारी भूल अपने से हुई कि मिले हुए शरीर को मैंने अपना माना और उस पर पूरा अपना अधिकार माना। उसके माध्यम से जो चाहे हम कर सकते हैं, ऐसा माना। जो अपना नहीं है, उसको अपना मान लेने की भूल से बड़ी भारी पराधीनता जीवन में आ गई। क्योंकि एक शरीर को अपना मान लेने से फिर उस बनने, बदलने और बिगड़ने वाली वस्तु की सारी आवश्यकताएँ अपनी आवश्यकताओं जैसी लगने लगती है। तो बहुत-सा सामान भी चाहिए, सुरक्षित स्थान भी चाहिए, तन की खुराक भी चाहिए, मन की खुराक भी चाहिए। शरीरों का अपना मान लेने का यह फल होता है, कि हम बहुत ही पराधीन हो जाते हैं।

स्वाधीनता स्वभाव से पसंद है, हर भाई को हर बहन को। और बड़ी दयनीय दशा मैंने देखी है अपनी कि पसंद है स्वाधीनता, पसंद है सम्मानपूर्वक जीना और शरीर को अपना मान लेने से हम इतने पराधीन हो जाते हैं प्रतीत होने वाले जगत् के, कि सम्मानपूर्वक जीना तो कभी सम्भव ही नहीं होता। तो चाहते क्या है ? तो चाहते तो यह है कि जब कभी भी भूख लगे तो रुचिकर, स्वादिष्ट, स्वास्थ्यकर भोजन बड़े आदर और प्रेम के साथ मिल जाए। रुचिकर भी हो, स्वास्थ्यकर भी हो, स्वादिष्ट भी हो और वह भी खूब आदर-सम्मान के साथ मिल जाए। लेकिन ऐसा होता नहीं है। कभी रुचिकर मिलता है, कभी रुचिकर नहीं मिलता है। कभी

स्वादिष्ट मिलता है, कभी स्वादिष्ट नहीं मिलता है। कभी सम्मान के साथ मिलता है, कभी सम्मान के साथ नहीं मिलता है। तो इस घोर पराधीनता को स्वीकार करके भी हम सब लोग सम्मान पसंद करते हैं, स्वाधीनता पसंद करते हैं। यह सम्भव होता नहीं है और ऐसी हालत में अगर परम स्वाधीन जीवन पर दृष्टि न जाए, निज स्वरूप भी मस्ती पर दृष्टि न जाए तो व्यक्ति में भीतर-भीतर बहुत प्रकार के Complications पैदा हो जाते हैं। कितनी Superiority कितनी Inferiority कितनी हीन भावना भीतर से उपजती है। और ऊपर से जबरदस्ती अपने को श्रेष्ठ दिखाने की कोशिश करके किसी तरह से अपमान-जनित दुख, पराधीनता-जनित दु:ख को हम लोग ढकने की चेष्टा करते रहते हैं।

किसी-किसी समय जिन निकटवर्तियों के सहयोग से दैनिक जीवन का काम चल रहा है, उनकी ओर से अगर उतना सम्मानपूर्वक व्यवहार नहीं मिला तो भीतर-भीतर दु:ख होता है। तो मैं कभी-कभी ऐसे सोचती हूँ कि अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न ये स्वाधीन जीवन के लिए, पूर्ण जीवन के लिए अनिवार्य व्रत हैं। अकिंचन अर्थात् मेरा कुछ नहीं है। अचाह अर्थात् मुझे कुछ नहीं चाहिए। अप्रयत्न अर्थात् अपने लिए कुछ नहीं करना है। तो पराश्रय छोड़ना, परिश्रम छोड़ना, प्रयास छोड़ना जरूरी है। पराश्रय छोड़ेगे तो स्वाश्रय अथवा हरिआश्रय होगा। परिश्रम छोड़ेंगे, श्रम-रहित होंगे, अप्रयत्न होंगे तो शरीरों से तादाम्य तोड़ने की सामर्थ्य आएगी। अशरीरी, अलौकिक तत्त्वों से अभिन्नता होगी। तो अपने को जो पसन्द है, जैसा जीवन, वैसा तो अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न होने से ही सिद्ध होता है। जब बाहरी बातों से सम्मान पर आघात पहुँचता है, पराधीनता की पीड़ा सताती है, तो मैं अपने को याद दिलाती हूँ, आपको भी पसंद आए तो अपने को याद दिलाना।

लाभ तो जरूर होता है। क्या याद दिलाती हूँ कि सचमुच अविनाशी, अलौकिक जीवन का जो अधिकारी है। मानव मात्र, साधक मात्र, जन्म-सिद्ध अधिकारी है। इतना ही नहीं ऐसा भी सुना है हम लोगों ने कि जीवनदाता, जन्मदाता ने मानव बनाकर हम लोगों को संसार में इसीलिए रखा है कि हम ज्ञान और प्रेम जैसे अलौकिक तत्त्वों के विकास के द्वारा सब प्रकार से जीवन को परिपूर्ण कर लें। इसी उद्देश्य से बनाकर उन्होंने भेजा है। तो इस जीवन के मूल में भी यह उद्देश्य है। और अलौकिक तथा अविनाशी तत्त्वों की अभिव्यक्ति में सर्वदुःखों की निवृत्ति है, अपने को पसंद भी है। तो अब सोचकर देखिए कि निजस्वरूप के आनन्द का जो अधिकारी है, वह नाशवान् संसार की किसी वस्तु का लालच रखे भीतर, तो इससे बढ़कर उसके जीवन का अपमान और कुछ होगा।

समझ में आया कि नहीं। अविनाशी जीवन का जो अधिकारी है, निजस्वरूप के बोध के आनन्द का जो अधिकारी है, परम प्रेमास्पद प्रभु के मधुर रस का जो अधिकारी है वह बनने-बिगड़ने वाले परप्रकाश्य जगत् की ओर देखे और किसी वस्तु की कामना रखे, तो क्या अपने भीतर कामनाओं को रखना अपने जीवन का अनादर करना नहीं है? है। तो अपना अनादर जितना मैं कर रही हूँ उतना कोई और कर सकता है क्या? नहीं कर सकता है।

यहीं की चर्चा है। मैंने एक बार ऐसा सुना था कि आनन्दमयी माता जी से प्रश्न कर दिया गया कि आप अपनी पूजा क्यों करवाती है? अगर आप अपने को भगवान मानती है तो भगवान जैसा प्रमाणित करके दिखाइए और नहीं तो अपनी पूजा करवाना बन्द करिए। तो उन्होंने बड़ी सरलता से कहा कि मैं पूजा करवाती नहीं हूँ। करने वाले जो जी में आता है, करते हैं। मैं कराती नहीं हूँ और मेरे लिए तो इस शरीर पर कोई चंदन लगा दे या विष्टा लगा दे कोई फर्क नहीं पड़ता। यह कहा उन्होंने कोई चन्दन

लाके लगा दे या विष्ठा लगा दे। इतना समझ गई कि कोई फर्क नहीं पड़ता, अपने लिए दोनों बराबर है। ऐसे जन जो है उनको बाहर से कोई अपमानित कर सकेगा? कभी नहीं कर सकता। तो दूसरों ने हमें दुःख दिया, दूसरों ने हमारे सम्मान में बाधा पहुँचाई, ऐसा तो सोचना बिल्कुल बेकार की बात है। अगर सोचना ही चाहिए तो ऐसा सोचना चाहिए, कि परम स्वाधीन जीवन हमारा अपना स्वरूप है, देहातीत स्वाधीनता का आनन्द इस मानव-जीवन की मौलिकता है। उसके रहते हुए अगर मैंने पराश्रय पसंद किया है परिश्रम पसंद किया है तो जिसने पराश्रय पसंद किया वह कब तक स्वाधीनता की कुशल मनाएगा। पराश्रय, पराधीनता को पसंद करने वाला कभी भी स्वाधीनता नहीं पा सकता।

हो ही नहीं सकता कभी। तो ऐसा अगर आप सोचें अकेले में बैठकर अपनी ओर देख करके, तो प्रतिदिन के जीवन में दैनिक, व्यावहारिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में छोटी-छोटी बातों के लिए जो हम लोग भीतर क्षुब्ध होते रहते हैं वह क्षोभ खत्म हो जाए, परस्पर का वैमनस्य खत्म हो जाए। एक ने जरा सी गलती मेरे साथ की, मुझको उसमें बड़ा गौरव मालूम होता है कि एक ने मेरे साथ जो किया, उसने दुगुना, चौगुना उसके साथ करके दिखाएँगे। तो यह मानवता की प्रतिक्रिया है, कि अमानवता की? यह अमानवता की प्रतिक्रिया हो गई।

एक कदम नीचे वह उतरा तो पाँच कदम नीचे मैं उतर जाऊँ तो उसका नुकसान तो कम हुआ, अपना नुकसान ज्यादा हुआ। और भीतर शांति सुरक्षित रहे, प्रसन्नता सुरक्षित रहे, यह बहुत बड़िया बात है साधक के लिए। अपने साध्य की ओर आगे बढ़ते रहने में बहुत सहायक बात है। और कोई भी समय ऐसा आ जाय जबकि भीतर से मुझे किसी कारण से क्षोभ हो जाए तो बाहर की ओर उतना ज्यादा देखने की आदत नहीं है तो भीतर की ओर देखती हूँ मैं। थोड़ी देर के लिए सब काम छोड़ देती

हूँ। क्षुब्ध दशा में कोई काम बढ़िया तरीके से तो हो नहीं सकेगा छोड़ करके, चुपचाप बैठ करके बाहर से जो हो रहा है सो तो हो ही रहा है उसकी प्रतिक्रिया मुझ पर क्या हो रही है वह महत्त्वपूर्ण है अपने लिए। तो प्रतिक्रिया को देखो उसका अध्ययन करो, उसके कारण को मिटाओ। तो बाहर की दशा चाहे जो भी हो अन्दर से आदमी शांत हो जाता है। परिस्थिति भले ही न बदले परन्तु अपने भीतर शांति आ जाती है। तो जब शांति आ जाती है जब मानसिक हलचल खत्म हो जाती है। तो मुझे ऐसा लगता है कि उठी हुई हलचल को थोड़ा पहले अपने भीतर दबाना पड़ता है कि उल्टी-सीधी प्रतिक्रिया न हो जाए। फिर उसके बाद साधक की हैसियत से अनुसार उसका अध्ययन करना पड़ता है। फिर सत्य के, ज्ञान के प्रकाश में प्रभु-विश्वास के प्रकाश में उस का निवारण करना पड़ता है। तो इतना समय निकल जाता है इस मामले में शांति से बिछुड़ कर, प्रसन्नता से बिछुड़ कर। प्यारे प्रभु की कृपामय लीला हो रही है, मेरे सुधार के लिए हो रही है, मेरी राग-निवृत्ति के लिए हो रही है इस पर से दृष्टि हट गई तो क्षोभ आ गया। रस के रासायनिक पदार्थ बदल गए। कहीं Blood pressure बढ़ता है, कहीं सिर में दर्द होता है, कहीं पेट में गैस भरता है। ये सब शारीरिक विकृतियाँ हैं। ये सब मानसिक अप्रियता disliking, कोई भी बात अपनी पसंद के खिलाफ हो गई तो इसके कारण होती हैं। सफलता के नाते अपने को सँभालता है व्यक्ति। बहुत बार असमर्थता के कारण मन ही मन मचल करके रह जाता है।

बाहर से कुछ करते नहीं बनता फिर साधक होने के नाते उसकी व्याख्या करके उसका निवारण करता है, फिर अलौकिक जीवन पर दृष्टि रखकर अन्तत परमात्मा का विश्वासी होकर उनको समर्पित होकर भीतर की शान्ति और सरसता को वापिस लाता है। इतने steps होते हैं इसके भीतर। तो इन सब बातों पर आज ध्यान धरकर देखिए। जब कभी ऐसा

मौका आता है तो मैं देखती हूँ तो कभी-कभी बड़ा अफसोस होता है कि उतनी देर और अधिक निकटता अनुभव किए होते किससे ? अपने मौलिक तत्त्वों से। जीवन के मौलिक तत्त्व हैं—परम शांति, परम स्वाधीनता, परम प्रेम। तो अगर बीच में क्षोभ न उठा होता, रासायनिक परिवर्तन शरीर में न हुए होते, तब मेरे मन में अनेक विकार न पैदा हुए होते तो इनके निवारण के लिए इनको सँभालने के लिए जो समय मुझे लगाना पड़ा, जो शक्ति मुझे खर्च करनी पड़ी वह सारी शक्ति और वह सारा समय कहाँ गया होता ? तो साधना के पथ पर साक्ष्य से निकटता अनुभव करने में गया होता। तो किसी-किसी समय तो भीतर से इतनी पीड़ा होती है मुझे ऐसा लगता है कि वह समय जैसे कि मृत्यु के समान हो गया।

मानव-जीवन की सजगता चली गई और इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं में शक्ति लग गई, जो कि हमारे लिए हानिकारक है, तो वह तो मृत्यु के समान है साधक के लिए। ऐसे प्रत्येक दिन के जीवन में जिन विकारों के कारण हम सत्य से दूर हो जाते हैं, शांति से दूर हो जाते हैं, हृदय की प्रियता से दूर हो जाते हैं उन सब बातों को हटा कर ही रखना चाहिए, अपने को बचा कर ही रखना चाहिए। इसके विपरीत एक बहुत विचित्र चीज देखी है मैंने जीवन में और बहुत स्पष्ट अनुभव है उसका कि जैसे परिस्थितियों की अनुकूलता मिले पसंद के लायक कोई खाने-पीने की चीज मिल गई या मन पसंद कोई और बात मिल गई तो एक ऐसे अवसर पर मैंने ऐसा पाया कि परस्पर बैठकर सत्संग की बातचीत हो रही है और केवल बातचीत नहीं हो रही है, सत्य के प्रकाश में जीवन को देखकर जो त्याज्य है उसको त्यागने की बात, जो ग्राह्य है उसको ग्रहण करने की बात चल रही है अपने द्वारा। तो बहुत ही sincere और ईमानदार साधकों की, 2–4 साधकों की टोली बैठी है और इस तरह की बातचीत हो रही है।

कभी-कभी स्वामी जी महाराज के पास हम बैठे होते और इस तरह की बात होती तो उसमें ऐसा मैंने पाया। ज्यादा लम्बा-चौड़ा Programme नहीं है, बस थोड़ी सी बात है। अगर जरा सी देर के लिए ध्यान में आ गया कि यह जो दृश्य आकृति अपनी दिखाई देती है, मैं उसके भीतर कैद कभी नहीं हुआ, वह तो केवल एक क्रियात्मक संयोग है। शरीरों के माध्यम से प्रतीत होने वाले परिवर्तनशील जगत् का संयोग करेंगे, कुछ सुख चाहेंगे तो इन शरीरों से सम्बन्ध जुट जाएगा। आँखों से सुन्दर दृश्य देखना पसंद आएगा तो आँखों से तादात्म्य हो जाएगा।

तो महाराज कहते देवकी जी, सुन्दर दृश्य देखने से कोई संसार में फँस जाता हो ऐसी बात नहीं। आँखों से प्रतीत होने वाले जगत् में सुन्दरता का भास, यह भूल तुम्हारे भीतर पहले से है। और इस भूल ने आँखों से सुन्दरता देखने का राग पैदा किया। और भीतर राग है तो कामना उत्पन्न होती है देखने की। और भीतर में नाशवान् संसार के लिए सुन्दरता का भास है, तो उसमें आकर्षण होता है। राग है पहले से, आकर्षण है पहले से और भोग की प्रवृति उत्पन्न होती है पीछे से। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए कि संसार सुन्दर है इसलिए हम फँस गए। ऐसा सोचना चाहिए कि इस नाशवान् में सुन्दरता का भास मुझमें पहले से है। अन्यथा विवेकी जन को सुन्दरता का भास नहीं होता है और जो सब दृष्टियों से पार हो जाते हैं उनको सुन्दरता, असुन्दरता कुछ भी नहीं दिखती है। ऐसा जब कभी विचार करते-करते उन्हें अपने निज स्वरूप की बात सामने आ जाती अथवा कैसा भी कोई कितने भी जन्म का भटका व्यक्ति क्यों न हो प्रभु की कृपा का आश्रय लेता है अथवा कृपाश्रित हो करके रहना पसंद करता है तो किस प्रकार से प्रभु की कृपा-शक्ति उसकी मलिनता को जल्दी-जल्दी दूर करती है। अपने ही में वह कृपा का सागर कैसे अपने को सँभालता है यह सब चर्चा होती। और होती तो जरा-सी देर की बात होती है। बहुत मामूली

सी बात होती है, कि जिसके साथ मेरा बनावट से सम्बन्ध नहीं है, केवल कामना से सम्बन्ध जुट जाता है। उस कामना से free होते ही, उसकी आवश्यकता नहीं है मुझे, इसको अनुभव करते से ही तत्काल उससे सम्बन्ध छूटता है और इतना हल्कापन, इतना आराम अपने आप को मिलता है उसी समय तत्काल। और कहीं अपनी ही असमर्थतता से पीड़ित व्यक्ति अहंशून्य होकर उस सर्वसामर्थ्यवान् की शरणागति पसंद करता है तो जिस समय किसी ईश्वर-विश्वासी ने उनकी महिमा को सुनाया और मैंने अपनी असमर्थता को देखकर उस शरण्य की शरण ली नहीं कि जीवन कहाँ से कहाँ पहुँचता है। कितना आराम मिलता है, कितना स्पष्ट होता है, कितना हल्कापन आता है, कितना भीतर-भीतर रस बढ़ता है। यह सब होता है चाहे साधकों की गोष्ठी हो चाहे संत-समागम हो।

यह सब होता है। ऐसे अवसर अनेक आए जब मैंने अपने को अनेकों विकारों और दुर्बलताओं से free बड़ी सरसता और बड़े हल्केपन में पाया। अगर उसी में कुछ काल ठहर जाएँ तो बड़ा उपकार हो जाता है। अगर उसी क्षण में जैसे घंटी लगाकर काम करने की rotine जहाँ बन जाती है, उसी क्षण में चाय-नाश्ता की घंटी लग गई और उठकर आप नहीं गए तो लाकर किसी ने पकड़ा दिया। और मैं क्या बताऊँ कितनी बढ़िया-बढ़िया बातें जो थीं सब अच्छा-अच्छा अनुभव जो था, स्वादिष्ट वस्तु को मुख में डालो, खाद्य पदार्थ का जीभ से स्पर्श हुआ Salivary glands ने काम करना शुरू किया, रसना से स्वाद का सुख भासित हुआ नहीं कि देहातीत जीवन की बातें और उस सर्व सामर्थ्यवान् की शरणागति में कितनी भी शांति थी, कितना आराम था कहाँ हम थे, कैसे वह सब लुप्त हो जाता है, कहाँ चला जाता है। और सब इस शरीर के माध्यम से छोटी-सी क्रिया में फँस करके सारा मामला चौपट हो जाता है। ऐसा मैंने देखा है, ऐसा मैंने अनुभव किया है।

एक-दो बार ऐसा हुआ जब मुझे बड़ा दु:ख हुआ, बड़ी तकलीफ मालूम हुई। ऐसा लगा कि यह सब चौपट ही हो रहा है भाई। इतनी जल्दी बदलता है। अब सोचिए आप, शरीर के माध्यम से सुख की बात भीतर में आई नहीं कि शरीरों के पार जो कुछ है सब छिप गया। और सत्संग के प्रकाश में एक-एक कदम केवल विचार के स्तर पर इन सम्बन्धों को छोड़ते हुए चले जाओ तो इससे सम्बन्ध सदा टूटा हुआ रहता ही है। सारी वृत्तियाँ, सब शक्तियाँ सिमट करके जब एक point पर आकर केन्द्रीभूत होती हैं, कि इधर से हटी नहीं, कि इधर का भार, इधर का झंझट यह सब समाप्त हो जाता है, देर नहीं लगती है।

पता नहीं कितना समय बीत गया थोड़ी-थोड़ी देर के शांत रहने के प्रयास में। ऐसा लगता है कि बड़ा कठिन काम है। कोई-कोई साधन जो शरीर और मन अर्थात् सम्पूर्ण जीवन का जो लौकिक पहलू है इस पहलू से उलझकर साधकों ने कितना-कितना समय बिताया है। अब एक वस्तु को न खाने का व्रत लेंगे, तो जबरदस्ती व्रत ले रहे हैं। खाए हुए और भोगे हुए के प्रभाव से रह-रह कर उस वस्तु का संकल्प उठ रहा है फिर जोर लगा करके उस संकल्प को दबा रहे हैं, तो क्रिया से अपने को रोक लिया तो कामना के रूप में रह गया फिर अशांति के रूप में रह गया। फिर मानसिक तनाव के रूप में रह गया। और कहाँ-कहाँ तक वह जाता है। विवेक के प्रकाश में व्यक्ति अपने को थामता है तो मैंने मनोविज्ञान में ऐसा पढ़ा कि जब जबरदस्ती करके, विचार के प्रकाश से व्यक्ति अपने को रोक लेता है तो भीतर का जो दबा हुआ राग है वह चेतन स्तर पर आता नहीं है। वासना और कामना के रूप में conscious level में आएगा तब न उसके प्रति आप क्रियाशील होंगे तो डर के मारे भीतर का दबा हुआ राग conscious level पर आता नहीं है और भीतर-भीतर इतना बैचेन रखता है व्यक्ति को कि कुछ समय के लिए एक जगह पर शांत

चुपचाप बैठा ही नहीं जाता है। कितना असंतुलन कितनी विकृतियाँ ये सब हो जाती है। तब आदमी सोचता रहता है, निराश होता रहता है, घबराता रहता है। इसलिए सही प्रतिक्रिया क्या होनी चाहिए? तो सही प्रतिक्रिया यह होनी चाहिए कि जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण हम सब भाई-बहनों को बनाना चाहिए। यह पहली बात है।

सही दृष्टिकोण का अर्थ क्या है? तो सही दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि भाई, जिन शरीरों के माध्यम से सुख-दुख के द्वन्द्व में फँसे हुए आज तक अपने को संतुष्टि नहीं मिली उनमें सत्यता, सुखरूपता का भ्रम न रखा जाए। यह पहली बात है। बड़ा आराम मिलता है इससे, बहुत आराम मिलता है। फिर दूसरी बात क्या आएगी। स्वभाव से आएगी अपने सामने कि यदि अपने ही में विद्यमान शांति की सरसता को आप पसंद करते हैं, बहुत सरसता है शांति में, जितना ही अधिक हम शांति को सुरक्षित रखेंगे, मन और तन बहुत जल्दी-जल्दी स्वास्थ्य लाभ करते हैं। और इनके स्वस्थ होने की पहचान क्या है? कि आप जब चाहे इनका जैसा उपयोग करें और जब चाहे तो इनसे असंग हो जाएँ। ऐसा होता है तो शांति को सुरक्षित रखना बहुत ही उपयोगी बात है। और शांति सुरक्षित रहेगी कैसे? तो उस अविनाशी जीवन पर दृष्टि रखने से।

जो शान्ति मुझे पसन्द है वह अपने ही में विद्यमान है, जो अमरत्व अपने को पसंद है वह अपना स्वरूप ही है। जिस परम प्रेमास्पद के मधुर रस की प्यास है भीतर, जिसके बिना आज तक किसी प्रकार से तृप्ति हो ही नहीं सकी वह अपने ही में विद्यमान है। तो जो अपने ही में है उससे अभिन्न होने के लिए बाहर की सब इच्छाओं को, सब कामनाओं को, सब वासनाओं को छोड़ देना चाहिए। और फिर नई वासना पैदा होगी नहीं, नई कामना पैदा होगी नहीं। लेकिन भुक्त-अभुक्त प्रभावों का नाश कैसे होगा? पहले जो भोग कर चुके हैं उसका stamp भीतर अहं में लग चुका

है, उसका नाश कैसे होगा? उसके नाश के लिए बहुत ही व्यावहारिक उपाय है दु:खी जनों के दुख में शामिल होना। तो अगर कुछ किए बिना रहा न जाए तो सेवा-प्रवृत्ति में हाथ डालना चाहिए और एक शरीर के प्रति भी जो कुछ करना हो वह सेवा के ही भाव से करना चाहिए, सुख-भोग के भाव से नहीं करना चाहिए। बड़ा सूक्ष्म भेद है। और प्रारम्भ में दोनों ही बातें मिली-जुली हुई रहती है। और कितनी बार तो मैंने अपने को देखा है कि पसंदगी भी है और सेवा के रूप में उस पसंदगी को सही करके उसमें आदमी फँस भी जाता है। लेकिन साधक की सच्चाई है तो उस फँसावट में से आदमी निकलता भी है।

तो प्रारम्भ में थोड़ा बहुत मिश्रण रहेगा लेकिन ईमानदार साधक में सत्य का दिया हुआ बल आता है। समर्पित साधक में सर्वसमर्थ स्वामी का दिया बल आता है और इन सब दुर्बलताओं पर आदमी विजय पाता है। इसलिए हारना नहीं, डरना नहीं, निराश नहीं होना। कदम उठाना अपना पुरुषार्थ है और हमको पार लगाना प्रभु की प्रतिज्ञा है। वह करेंगे, इसलिए डरने की कोई बात नहीं है। तो जहाँ तक हो सके वस्तुओं की सुखरूपता, सुन्दरता का भास, इस भूल को विचार के आधार पर बिल्कुल निर्मूल कर देना चाहिए। और फिर अगर कोई प्रवृत्ति आती है सामने तो सेवा-भाव से उसमें भाग लेना चाहिए। और जहाँ भी कहीं आपको शांति-सम्पादन का अवसर मिले अथवा उच्च कोटि का ऐसा सत्संग कि जिसमें विचार करते जा रहे हैं, छोड़ते जा रहे हैं जिसमें कि हरिआश्रय के आधार पर अहं-शून्य होने का मौका लगे, ऐसा कोई अवसर मिले तो कभी नहीं चूकना और फिर यहीं देखने की बात भी खत्म कर देनी चाहिए। उस शान्ति को जितनी देर तक सुरक्षित रख पाएँगे उतनी ही देर में अहं रूपी अणु में से अलौकिक तत्त्वों का ऐसा विकास होता है कि उसके बाद फिर पीछे हटने का प्रश्न साधक के सामने नहीं आता है। नहीं हटता है व्यक्ति। बहुत

ही एकान्तिक साधना की बात है। तो समय कम है अपने पास, परिस्थितियाँ बहुत ही उलझी हुई है, अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ भी आज मानव समाज को व्यग्र कर रही हैं। कभी-कभी भीतर, जब राजनैतिक बातों को मैं देखती हूँ सामाजिक बातों को देखती हूँ, साम्प्रदायिक बातों को देखती हूँ तो घबरा करके कभी-कभी अनन्त परमात्मा से प्रार्थना करने लग जाती हूँ—हे प्रभु, कम से कम साधक जन जो आगे बढ़ना चाह रहे हैं, उनकी स्वाधीनता सुरक्षित रखना।

भई देश में, समाज में, वायुमण्डल में कम से कम इस प्रकार की बात भी हो तो आप देखिए। इन सबके सहयोग से ही तो हम सब लोग इस जगह बैठ करके शान्तिपूर्वक बातचीत कर रहे हैं। तो समाज का भी सहयोग है राष्ट्र का भी सहयोग है, प्रकृति भी अनुकूल है तभी यह बात सिद्ध हो रही है। तो जहाँ तक सेवा के द्वारा राग-निवृत्ति का प्रश्न है, जहाँ तक बैठ करके ग्रन्थों के आधार पर विचार करने की बात है, जहाँ तक शरीरों से अतीत, अविनाशी जीवन के अनुभव के लिए तैयारी की बात है, उसमें तो भई, प्राप्त अवसर का अधिक से अधिक लाभ अपने लोगों ले ही लेना चाहिए।

किस समय क्या असुविधा पैदा हो जाए कोई कुछ कह नहीं सकता। और जब जीवन की माँग तीव्र हो जाएगी, जब सेवा की अनिवार्यता राग-निवृत्ति के लिए पूरी हो जाएगी। जन-समाज के हित के लिए तो हमेशा ही होती रहेगी, राजनीति के लिए पूरी हो जाएगी। जब प्रभु प्रेम की प्यास अति तीव्र हो जाएगी तब तो फिर अपने लिए कुछ करणीय शेष रहेगी ही नहीं। तो आवश्यकता की तीव्रता और आवश्यकता की पूर्ति को स्वामी जी महाराज ने युगपत कहा है, साथ-साथ होने वाली बात कही है। और चूँकि वे सब अलौकिक तत्त्व हम भाई-बहनों में अपने ही में विद्यमान है, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति में कोई शंका रखने की बात नहीं है। उसमें

कोई आधिकारी होने की बात नहीं है। जब जीवन के प्रश्न को लेकर सन्त के पास बैठकर प्रश्न करना आरम्भ किया मैंने तो मुझे बहुत ही सुलझा हुआ उत्तर मिला।

जब जन्म-मरण और सुख-दुःख के द्वन्द्व से उलझी हुई बुद्धि के कारण थकित हो गई थी मैं, तो मैंने स्वामी जी महाराज से direct सीधे प्रश्न किया, महाराज, जीवन है कि नहीं। तो उन्होंने कहा—है। बड़ा आराम मिला। अगर सचमुच आप भीतर से प्रश्न को लेकर व्यग्र है, तो सच्चा उत्तर पाते ही बिना किसी और प्रयास के शान्ति मिलती है। कोई लम्बी चौड़ी बातचीत नहीं। भरी सभा में और क्या बातचीत हो सकती है। तुम्हारा कोई प्रश्न है? हाँ, महाराज है। क्या है? तो थोड़ा सा सुख-दुःख का चित्र सुनाया। हमने कहा ऐसी जिन्दगी क्या करूँगी? महाराज मैं जानना चाहती हूँ कि जीवन है कि नहीं तो उन्होंने कहा—है, तो आँखों के सामने से जैसे निराशा का अंधकार हट गया। मैंने कहा अच्छा है। तत्काल इसका उत्तर किसको मिलता है? क्योंकि पता चले किसको मिलता है तो देखे हमें भी मिलेगा कि नहीं। मिलता है, कि कहीं कोई गुंजाइश है कि नहीं। तो किसको मिलता है? तो सबको मिलता है। तो पहले निराशा हटी फिर आशा जगी, कि अच्छा कई सबको मिलता है उसमें मैं भी शामिल हो सकती हूँ। और कैसे मिलता है? अब पुरुषार्थ भी तो चाहिए न। अब वह तरीका भी हमको मालूम होना चाहिए? न कैसे मिलता है? तो जो उसकी आवश्यकता अनुभव करता है, उसको मिलता है। आवश्यकता अनुभव करने से मिलता है। जीवन है और सबको मिल सकता है। किस उपाय से? आवश्यकता अनुभव करने मात्र से। बिल्कुल सच्ची बात है। जो दूर है उसको पकड़ने के लिए चलकर जाना पड़ेगा, प्रयास करना पड़ेगा। जो खोया हुआ है उसको ढूँढने के लिए मेहनत करनी पड़ेगी, बुद्धि लगानी पड़ेगी। जो नित्य प्राप्त है, सर्वत्र, सदैव विद्यमान है, अपने भीतर-बाहर

भरपूर है तो जो नित्य प्राप्त है उसको बाहर-बाहर खोजने के लिए दौड़ेगे तो उस नित्य प्राप्त से दूर हो जाएँगे कि नजदीक हो जाएँगे? दूर हो जाएँगें। जो अपने ही में विद्यमान है, अपने से अधिक अपने को प्यार करने वाला है, जो अपने से अधिक अपना हित-चिन्तक है, तो जो सब प्रकार से अपने ही में है, अभी है ऐसा में कब तक कहती रही। स्वामी जी महाराज जी की बातों को सुन-सुन के कहना सीखा। अपने को समझाने के लिए तो ऐसा मैं कब तक कहती रही।

तब तक कहती रही जब तक कि अपने व्यक्तित्व का अभिमान और उसकी प्रधानता बनी रही। सोचना इस बात को। अपने व्यक्तित्व की प्रधानता है तब आप क्या कहते हैं कि, यह मेरा घर है, यह मेरा पद है, यह मेरा विचार है यह मेरी सन्तान है यह मेरी बहादुरी है, यह मेरा परिश्रम है। वहाँ क्या है? अपने व्यक्तित्व की प्रधानता है। तो यह जब तक जोरदार था पढ़ने लिखने का सहारा, जिज्ञासु होने का आभास, मैं बड़ा भारी जिज्ञासु हूँ। साधक होने का आभास, मै बड़ा भारी साधक हूँ। ये अच्छी-अच्छी बातें भी अपने अहंरूपी अणु को पोषित करती रहती हैं, मोटी बनाती रहती हैं। सत्य से दूर रहता है आदमी। तो इसकी प्रधानता जब तक थी तब तक मैं इस भाषा में अपने को समझाती रही कि अरे तुमको अब कुछ करना नहीं है, कुछ खोजना नहीं है। जिससे मिले बिना कहीं आराम है नहीं, वह तो तुम्हारे ही भीतर है। और जब संत की कृपा से, उन महामहिम की महिमा से उनकी कृपालुता से जब उनकी विशालता का आभास होने लगा, जब महामहिम की महिमा का कुछ आभास होने लगा तब मैं ऐसा नहीं सोचती हूँ। तब मैं दूसरे ढंग से सोचती हूँ। तब मैं कहती हूँ कि जो भीतर-बाहर सब तरह से भरपूर है तो उसी में से मेरी उत्पत्ति हुई। उसी की सत्ता से अपनी सत्ता भासित होती है। तो जिसमें मैं हूँ जो मेरा आधार है। तो अब ऐसी भाषा बन गई, वे भी महाराज जी

के ही वाक्य हैं जिनको अपने लिए पकड़ा मैंने। तो जो उत्पत्ति का आधार है वही मेरे जीवन का आधार है। जो सब प्रतीति का प्रकाशक है वही मेरे विवेक के प्रकाश का आधार है तो उसी में मैं हूँ, उसी ने मुझे बनाया, उसी ने अपने प्रेम से सँभाला, उसी ने मुझको सत्ता दी। उसी से मुझे अभिन्न होना है। तो जब ऐसा है तो कौन-सा प्रयास रहेगा कौन-सी चेष्टा रहेगी कौन-सा संकल्प रहेगा। यह सब कुछ नहीं रहेगा तब क्या रहेगा कि भई अपने पास उन्हीं की दी हुई सामर्थ्य है तो उनकी प्यारी-प्यारी सृष्टि की सेवा में सधन्यवाद वापिस कर दो और जब प्रवृति से हटने का अवसर मिले तो उसको सबसे अधिक महत्त्व हम लोगों को देना चाहिए।

●

प्रवचन 10

संसार में कुशलतापूर्वक निर्वाह का अर्थ क्या हुआ? तो उसका अर्थ यह हुआ कि हम संसार के लिए अनुपयोगी न रहें। और एक शरीर जो संसार का ही छोटा-सा नमूना है, यह शरीर भी संसार ही है। जो बन जाता है, बदल जाता है, बिगड़ जाता है, मिट जाता है उसी का नाम संसार है। एक छोटा-सा नमूना है जो संसार का, जो हमारे पास है ऐसा लगता है तो उसकी आसक्ति, उसका भार, उसकी पराधीनता, अपने में न रहे। ऐसा कौन-सा तरीका है?

स्वामी जी महाराज ने बोलचाल की भाषा में बहुत ही सहज उपाय बता दिया हम लोगों को। और यह कहा कि संसार सेवा का क्षेत्र है। उससे जो कुछ मिला हुआ-सा लगता है, वह सब उसकी सेवा में लगा दो और अपने लिए उसको पसंद न करो तो बहुत ही कुशलतापूर्वक निर्वाह हो जाएगा। जिन लोगों ने शरीर और संसार की एकता को मानकर शरीरों को संसार की धरोहर मानकर उसकी सेवा के लिए अर्पण कर दिया, उन पर एक शरीर को सँभालने का भार नहीं रहा। जहाँ भौतिकवाद की चर्चा होती है, भौतिक विकास होना चाहिए तो उसमें बहुत बढ़िया सुझाव महाराज जी ने दिया कि जगत् की सत्ता अगर तुम स्वीकार करते हो तो एक शरीर जो तुम्हारे पास है यह भी जगत् ही है। शरीर और संसार में भेद मत मानो। और एक छोटे से संसार के लिए बृहद् संसार को हानि मत पहुँचाओ। भौतिक विकास का मूल मंत्र है बड़ा रहस्य है इसमें। एक शरीर की सुरक्षा के लिए अनेकों शरीरों के हित को न देखना, एक शरीर को अपना मानकर अनेकों को पराया मानना यह भूल है कि जिससे हम शरीर और संसार के सम्बन्ध का सुन्दर निर्वाह नहीं कर पाते। और जिन लोगों ने शरीर और संसार की एकता को मान करके, शरीरों को संसार की सेवा में लगाया, उनका जीवन कैसा हो गया तो उनकी आवश्यकता

को संसार ने अनुभव किया और वे स्वयं शरीर तथा संसार की आवश्यकता से मुक्त हो गए। तो जगत् को आपकी जरूरत पड़े, जगत् आपके शरीर को अपनी वस्तु मान कर उसकी रक्षा करे, उसका पोषण करे, उससे काम ले उसको सँभाले और आप स्वयं सेवा का अवसर खत्म होते ही जब अकेले हो जाएँ तो शरीर और संसार के भास से मुक्त हो जाएँ। जगत् को शरीर की जरुरत रहे और मुझे अपने लिए जगत् की आवश्यकता न रहे, शरीर की आवश्यकता न रहे, शरीर का भार मुझ पर न रहे, उसकी जिम्मेदारी मुझे न ढोनी पड़े, और उनकी खातिरदारी के लिए दूसरों के अधीन न होना पड़े। इसको स्वामी जी महाराज ने भौतिक विकास बताया। आपके पास जो एक शरीर है उसकी आवश्यकता को समाज अपनी आवश्यकता मान ले और उसको पूरा करने के लिए समाज लालायित रहे, इसको स्वामी जी महाराज ने भौतिक विकास बताया। और आप एक शरीर को अपना मानकर उसकी आसक्ति में फँसे रहें और यह आशा करें कि कुटुम्ब-परिवार, बाल-बच्चे, माता-पिता, नाता-रिश्ता, अड़ोसी-पड़ोसी सब मिलकर के मेरे एक शरीर की आवश्यकता पूरी करते रहें। तो आप चाहे कि सब सहायता दें और संसार आपकी ओर बेरुखी का व्यवहार करे तो इसके समान और कोई काला समय सम्मानित व्यक्ति का हो सकता है? जी। हम चाहे कि आप मेरी खातिर करें, मदद करें, हमको वस्तु दें और आप मेरी ओर मुखातिब न हों, आप मेरी उपेक्षा करें। तो मैं संसार को पसंद करूँ और संसार मेरा तिरस्कार करे।

इस जीवन को देखो, कैसा लगता है। और आपके पास जो शरीर है समाज इसको अपनी वस्तु मान करके उसकी रक्षा में, सेवा में लालायित रहे और आप अपने लिए उस शरीर की आवश्यकता अनुभव न करें। इस जीवन को देखो, दोनों में से कौन-सा पसंद आएगा पहला कि दूसरा? जी! दूसरा। तो मैं क्या बताऊँ मानव सेवा संघ के सत्संग के प्रकाश में यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप से विदित हो गई मुझे कि संसार में कुशलता

से रहना है तो भी और संसार के बंधन से मुक्त होकर अविनाशी जीवन से, अविनाशी परमात्मा से अभिन्न होना हो तो भी सत्संग की बड़ी भारी आवश्यकता है। अगर आप संसार से लेने की आशा करेंगे तो उसकी पराधीनता से कभी मुक्त नहीं हो सकते। क्योंकि आशा में ही तो बँधा है व्यक्ति, वस्तु तो हमेशा से छूटी हुई है। वस्तु तो है नहीं आपके भीतर, घुस ही नहीं सकती प्रवेश कर ही नहीं सकती। तो उसकी आशा में ही व्यक्ति बँध जाता है। और प्रकृति की इतनी उदारता है कि शरीर जो हमको मिला है साधन-सामग्री के रूप में, संसार के बंधन से मुक्त होने के लिए तो उसको प्रकृति ने ऐसा बनाया कि एक बार थोड़ा सा उस पर ध्यान दे करके कुछ समय के लिए उसकी सेवा कर दो तो कई घंटों के लिए व्यक्ति free रहता है। उन शरीरों को लेकर सेवा-प्रवृत्ति के द्वारा पुराने रागों को निवृत्त करने के लिए और शान्ति-सम्पादन में शरीरों से तादाम्य तोड़ने के लिए और उन शरीरों की असंगता में अविनाशी जीवन के अनुभव के लिए काफी scope है, खूब समय दिया गया है। 24 घण्टे के समय को ठीक प्रकार से आप बाँट कर देखिए तो जिसने शरीरधारी बनाया अपने लोगों को और जिसने इस प्राकृतिक पदार्थ में निर्वाह किया संसार में, उसने ऐसा नहीं किया कि 24 घण्टे हमको शरीर के साथ उलझा रहना पड़े। ऐसा नहीं बनाया।

एक बार एक समय स्वास्थ्यकर, हितकर, निष्क्रिय-भाव से शरीर की सेवा कुछ देर के लिए कर दो तो कई घंटों के लिए इसकी ओर से free होकर हम लोग इसका उपयोग साधन-सामग्री के रूप में कर सकते हैं। अपनी ही भूल से उसी को प्रधानता देकर, उसी के पीछे पड़े रहने में, उसी के माध्यम से जगत्-भोग का इन्तजाम करते रहने में बहुत सारा समय जीवन का निकल गया। और अब क्या हो गया? कल एक चिट्ठी मेरे पास आई। मैं उत्तर दे रही थी। तो उन सज्जन को मैं सन् 1937 से जानती हूँ, जब वे 17-18 वर्ष के युवक थे अब वे retired हो गए हैं।

बड़ा लम्बा समय बीत गया। इस सारे लम्बे समय के भीतर हमेशा ही जब कभी उनका पत्र आया तो समस्याओं से ही भरा हुआ आया। अब कई बच्चों के बाप हो गए हैं service खत्म हो गई, retirement हो गया अब भी उनकी समस्याएँ ही समस्याएँ हैं। तो जब पढ़ रहे थे तो पढ़ाई का इन्तजाम नहीं था, समस्याएँ थीं। विवाह हो गया बच्चे हो गए तो बच्चों के लालन-पालन, पढ़ाई का इन्तजाम नहीं था, उनकी समस्या थी। नौकरी खत्म होने लगी तो छूटने का डर हो गया यह retirement हो जाएगा तो क्या करेंगे वह समस्या हो गई। और अब तो वह घड़ी सिर पर आ ही गई retiredment हो ही गया अब यह समस्या हो गई। अब कहाँ रहें, क्या करें तो जिस दिन जीवन आरम्भ किया था उस दिन भी समस्या थी, जिस दिन पढ़ाई-लिखाई, नौकरी-चाकरी, शादी-ब्याह, बाल-बच्चे हो गए उस दिन भी समस्याएँ थीं और अब सब छूट रहे हैं तब भी समस्या है। आफत है कि क्या है? जिन्दगी है कि समस्या की ढ़ेरी है, पूछो भला। तो बनाने वाले ने इसीलिए बनाया क्या? सारी जिन्दगी अपने लिए समस्याएँ पैदा करते रहो और संसार से समस्याओं का समाधान पूछते रहो और माँगते रहो और रोते रहो। यह तो मानव का जीवन नहीं है। बनाने वाले ने ऐसा नहीं बनाया। उत्तर देते समय बड़ा अजीब सा लगा कि इस भले आदमी को अब मैं क्या कहूँ। अब शरीर थकित होने लगा गया। अब तक जिस बल पर काम कर रहे थे वह बल भी खत्म हो गया। तो साधन की सामग्री जो मिली थी उस सामग्री के खत्म होने के दिन आ गए और साधना के आधार पर उस सामग्री से free होने की सामर्थ्य आपमें नहीं आई। ठीक है न।

जिसने बनाया उसने साधन-सामग्री किस लिए दी? तो उसने इसलिए दी कि अब तक तुममें शरीर धारण करके जगत् में खेलने-कूदने का शौक था तो प्रकृति के विधान ने तुमको अवसर दे दिया। अब तक

तुमने जीवन-मुक्ति का पुरुषार्थ नहीं किया तो प्रकृति ने अपनी उदारता से एक chance और तुमको दे दिया। तो इस बार जो साधन-सामग्री मिली है भाई, उसका ठीक उपयोग करके सामग्री के खत्म होने से पहले अपना काम तो पूरा कर लो। तो कौन-सा काम? शरीरों की आसक्ति से मुक्त हो जाओ, समाज और प्रकृति के ऋण से उऋण हो जाओ, जीवन-मुक्ति के आनन्द से भर जाओ। जीवन दाता, जन्म दाता, परमप्रेमास्पद के प्रेम के रस से भर जाओ। उसके बिना तो समस्या हल होती नहीं है।

एक साधिका, एक बहन मुझसे किसी कारण से, क्या उनके मन में था मैं नहीं जानती हूँ मेरे पास निश्चिन्तता से बैठकर धीरज से कहने लगी कि माता जी अब तो मैं जा रहीं हूँ, तो मुझे बड़ा मजा आ गया। मैंने कहा बहुत खुशी की बात है भई जाओ। अरे! आप इतने सहज से कह देती हैं, जाओ। तो हमने कहा मुझे तो कोई नयापन लगता नहीं है। जाओगी कहाँ? अनेक बार यहाँ से जाना हुआ है और जा करके यहीं लौट कर आना हुआ है, तो हम काहे को घबराएँ? जाना चाहती हो तो जाओ। जाओगी कहाँ? इस भौतिक सीमा के बाहर तो जाना होगा ही नहीं। तो मुझे परेशानी क्या है। जाना चाहती हो जाओ, फिर लौटकर आ जाओगी यहीं। हमको क्या करना है? सोच कर देखो न। अगर संसार से जो कुछ लिया है हमने उस पर से अपना अधिकार नहीं उठाया, उससे व्यक्तिगत सुख भोगना नापसन्द नहीं किया, अपने पास जो कुछ बचा-खुचा रह गया है उसको ले करके सधन्यवाद संसार की सेवा में अर्पण नहीं किया तो इसका राग मिटेगा नहीं। इसका आकर्षण खत्म नहीं होगा तो अपने ही में विद्यमान अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति कैसे होगी भई? तो कदम तो यहीं पर रुका रहता है, और हम अविनाशी जीवन की कल्पना करते रहते हैं।

बहुत सोचने की बात है। और आप कहेंगे नाम लेने को तो कहा नहीं, ध्यान करने को सिखाया ही नहीं, व्रत-उपवास करने को सिखाया ही

नहीं तो यहाँ तो कोई साधना हीं नहीं सिखाई गई। ऐसा किसी-किसी का ख्याल हो सकता है। अभी मुझे एक पारसी महिला मिली थी उनकी लड़की ने एक सनातनी लड़के से ब्याह किया। तो उसी सम्बन्ध में वह अपनी समधिन के साथ मिलने आई, तो ऐसे ही सूत्र हमारे कमरे में जगह-जगह पर टँगे हुए थे। सत्संग का प्रोग्राम चल रहा था तो 2-4 सूत्रों को पढ़कर कहने लगी कि यह तो बहुत अच्छी चीज मालूम होती है। तो मैंने कहा हाँ, अच्छी चीज है ठीक है। तो मुझे मिल सकती है क्या? तो मैंने मँगवाकर उन्हें दे दिया stock में से। मैंने कहा दे दो इनको। ले लिया उन्होंने फिर कहने लगी बहनजी, तो हम आश्रम में आएँगे, आपका सत्संग सुनेंगे। मैं भी साधना कर रही हूँ। मैंने कहा बहुत अच्छी बात है। हिन्दी तो नहीं बोल पा रही थी, अँग्रेजी ही अँग्रेजी बोल रही थी। बहुत पढ़ी-लिखी महिलाएँ थीं सब। तो कहने लगी कि देखिए मैं साधना कर रही हूँ। और सममुच उस दिन उनको जलपान चाय वगैरह दिया तो उन्होंने लिया नहीं। कहा, मेरा व्रत है। तो मैंने सोचा लड़की का ब्याह कर रही है, कुछ व्रत-उपवास कर रही होगी। तो हमने कुछ कहा नहीं। तो महिला कहने लगी मुझसे कि मैं उपवास कर रही हूँ। पहले मैं चाय पीकर करती थी, अन्न और फल नहीं लेती थी। अब मैंने चाय छोड़ दिया है, केवल जल पीकर कर रही हूँ। और बहनजी मेरा ऐसा विचार है जल पीकर के व्रत करना जब मेरा सध जाएगा तो उसके बाद मैं निर्जल करूँगी। इससे काम तो ठीक बनेगा न! तो ऐसी साधना हम कर रहे हैं, करेंगे। अब मैं उस महिला को क्या कहूँ कुछ कह नहीं सकी। उसको हतोत्साह भी नहीं करना था मुझे और पारसी ढंग की साधना किस तरह की होती है मुझे परिचय भी नहीं है। बीच में मैं अपना कुछ लगा दूँ तो बिचारी गड़बड़ा जाए, इसलिए समय भी नहीं था। ज्यादा समझाया-बुझाया नहीं मैंने लेकिन भीतर-भीतर मैंने सोचा, महिला में दृढ़ प्रतिज्ञा तो बहुत अच्छी बात है

भाई। अन्न छोड़ दिया फिर फल छोड़ दिया फिर चाय और दूध छोड़ दिया तो अब दिनभर प्रातः काल से लेकर संध्या समय तक जल पीकर रहती हैं। और उस दिन मुझसे कह रही थी उनकी लड़की यास्मीन का विवाह हो जाएगा, अब मैं ऐसा व्रत करूँगी कि जल भी नहीं लूँगी। तो मैंने उनको कहा ठीक है। जितना तप आप कर सकती हैं भले करिए, लेकिन हठ करने की जरूरत नहीं है। शरीर को ज्यादा जरूरत पड़े तो दे देना। कह करके उनको मैंने विदा किया।

लेकिन अपनी ओर से मैं ऐसा सोच रही हूँ कि उनके लिए कितना कठिन व्रत है फिर भी उनको लगता है कि यह साधना है। ऐसा करने से सफलता मिल जाएगी। ऐसा वे सोच रही हैं तो मैं तो ऐसा नहीं सोच रही हूँ। मैं ऐसा सोच रही हूँ कि शरीर को अपना मान करके उसको अन्न और जल के बिना तपाओ तो तप का फल तो होता है, बल बढ़ता है, मन संयमित होता है लेकिन जिस शरीर को अन्न और जल के बिना तपा रहे हैं, उसको अपना मानते रहिए, उसके महत्त्व को जीवन में धारण करिए तो उस शरीर से अलग होते नहीं बनेगा। यह बात पकड़ में आती है? जी! और शरीरों की ममता नहीं टूटे उससे असंग होते नहीं बने तो देहातीत जीवन की अभिव्यक्ति अपने लिए बहुत दूर की बात हो जाएगी। ऐसे ही इस विषय पर बहुत विचार करके देखने की बात है, कि शरीरों को अपना न मानना, उसको साधन-सामग्री मानना और जगत् का मानकर जगत् की सेवा में लगा देना बहुत मामूली बात होती है उनके लिए, जो ऊँचे विचार और ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले और ऊँचे-ऊँचे सत्संग सुनने वाले लोग हैं।

एक महिला मुझे मिली तो कहने लगी, यह तो बहुत साधारण स्तर की बातचीत हो गई। तो मैंने मन में सोचा कि शरीरों को अपना न मानना, जगत् के साथ उसके सम्बन्ध को जानकर के जगत् की सेवा में उसको लगाना यह अगर मामूली बात है और इसको मामूली बात जानकर के

छोड़ दो और जिसे विशेष साधन समझते हो उसमें अपने को लगाओ तो लगाते-लगाते कितना समय बीत जाए साधना कभी पक्की ही नहीं हो पाएगी। सोचकर के देखो तो मामूली सी बात नहीं है, बहुत जोरदार बात है। अपना न मानना, अपने लिए न मानना, जिस उद्देश्य से यह सामग्री मिली है उस उद्देश्य की पूर्ति में इसे लगा देना यह इतनी जोरदार साधना है। जिसने कर लिया वह पार पा गया। हम लोगों को भी इस दृष्टि से बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

अब उसके आगे की बात देखो। अब क्या कहते हैं अनुभवी संत। यह कहते हैं कि शरीरों को लेकर समाज के काम आने लग जाओ तो प्रकृति, परमात्मा, समाज इतने उदार हैं कि जितना तुम अपनी तरफ से देना पसंद करते हो उससे कई गुना अधिक वे तुझको दे देते हैं उसी समय, तत्काल, यह तो मैंने देखा है। कई जगह आश्रमों की स्थापना हुई है। स्वामी जी महाराज ने उन्हीं दिनों में कहा था और अब वे बातें मेरे सामने प्रत्यक्ष होकर आ गईं। तो पहले पहल जिन सज्जन के मन में आया कि मेरा एक छोटा सा बगीचा है उसमें दो कुएँ हैं और इतनी सी जमीन है तो आश्रम बनाने के लिए मैं उसका दान करूँगा। अच्छी बात है भई कर दिया उन्होंने। तो इतनी छोटी-सी जमीन, एक छोटा-सा बगीचा उन्होंने अपनी ओर से दान किया सहज भाव से, इस उद्देश्य से कि वस्तुएँ जो अपने पास आई हैं उन वस्तुओं में से कुछ अच्छे काम में लगना चाहिए। ऐसा भाव होता है आदमी का। ऐसा समझ कर उन्होंने दान किया। और जैसे ही उस पर मानव सेवा संघ का Board लग गया और सत्संग होने लगा तो उसी साल 6 महीने के भीतर-भीतर जितनी जमीन पहले दान करने वाले सज्जन ने दी थी, मैं सोचती हूँ कि उससे दस गुना अधिक और मिल गया। किसी ने उसके पास वाला प्लॉट खरीदकर उसे साथ जोड़ दिया। उसके दाएँ-बाएँ, पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण जहाँ तक जगह मिल

सकती थी उस नगर के लोगों ने मिलाकर इतना बड़ा बना दिया कि उस सज्जन ने जितना दिया था उससे दस गुणा अधिक हो गई। तो महाराज जी यह कहते कि देखो भई, समाज है, प्रकृति है, परमात्मा है ये इतने उदार हैं कि तुम इतनी-सी उदारता दिखाओगे, तो यह ऋणी नहीं रहते किसी व्यक्ति के। ये उससे बहुत अधिक उदारता तुम्हारे साथ कर देते हैं, भर देते हैं। तो अब हमको क्या करना चाहिए? तो जो मैं आपकी दृष्टि में लाना चाहती हूँ वह यह बात है कि शरीर और संसार के सम्बन्ध के निर्वाह में, सेवा के व्रत में आहुति देते समय भेंट-पूजा चढ़ाते समय ज्ञान के प्रकाश में इतने सावधान रहो कि तुम्हारी सेवा की भावना के बदले में जो प्रकृति, समाज और परमात्मा तुम्हारी सेवा करने लगे, तो तुम कर्त्तापन के अभिमान में मत फँस जाना। यह ख़ास बात हो गई।

मैं बड़ा उदार तो समाज जब तुम्हारी सेवा करने लगे तो अधिक-अधिक लेने के लोभ में मत फँस जाना। ऐसा होता है। मैंने तो बहुत ही शुष्क और कठोरता के स्तर से साधना के जीवन को आरम्भ किया तो कहाँ-कहाँ फँसावट आती है, कहाँ-कहाँ व्यक्ति अपनी दबी हुई दुर्बलताओं का शिकार बन जाता है। मुझको मालूम है, मैंने देखा है, मैंने अपनी दशा का अध्ययन किया है। और आप भाई-बहन भी उसके शिकार न हो जाएँ, आप बच जाएँ इसलिए मैं अपना अनुभव आप लोगों को सुना रही हूँ समाज की उदारता। आप बहुत भाई-बहन यहाँ ऐसे बैठे हैं जो समय-समय पर आकर के पूछते रहते हैं, बहन जी, कोई सेवा बताइए। कोई जरुरी काम हो तो बताइए। तो मैं अपने साधकों को सावधान करती रहती हूँ कि देखो भई, समाज जब उदारतापूर्वक तुम्हारी सेवा करने लगे तुम्हारा विश्वास करके, तो आती हुई अनुकूलता को देखकर अपनी जरूरतों को बढ़ाते मत जाना। नहीं तो पहले जितने ऋणी थे, उससे अधिक ऋणी बन जाआगे। क्योंकि परिश्रम करके कमाया हुआ पैसा जब आदमी खर्चने

चलता है तो जरा सोच-समझ कर खर्च करता है। कम से कम में काम चले ऐसा सोचकर खर्चता है और समाज आकर बरसाने लगता है उदारतापूर्वक। यह भी आपनी सेवा में ले लीजिए, यह भी अपनी सेवा में ले लीजिए। उस समय साधक अपनी जरूरतों को अगर बढ़ाता चला जाए, शरीर को आराम देने की सुविधाओं को लेता चला जाए तो वह फँसेगा कि छूटेगा? जी! फँसेगा। हुआ है ऐसा। कई बार मैंने अपने भीतर इस प्रकार से समाज-सेवा के बदले में बिना मेरे माँगे, मेरे पास वस्तुएँ आ रही हैं तो इनका उपयोग करने में अपने को हिचकना नहीं चाहिए? इस अनुकूल परिस्थिति के भीतर अपनी बढ़ती हुई लालच के, लालच कहूँ तो थोड़ा छोटा ही शब्द बनेगा, लिप्सा कहूँ तो और ज्यादा चोट लगेगी दिल पर। तो ऐसे चोट लगाने का काम मैंने किया है। सोच विचार करके, जानबूझकर के, यह अपने को थोड़ा अपमान लगेगा थोड़ा धक्का लगेगा, तो सावधानी रहेगी। इसलिए महाराज जी ने कहा, शरीर और संसार के सुन्दर निर्वाह के लिए बढ़िया से बढ़िया बात है कि इन दोनों को तुम अपने लिए न मानना। यह साधन-सामग्री है, संसार की वस्तु है। सेवा में लगाना यह पहला कदम हुआ और की हुई सेवा के बदले में अपने लिए शरीर और संसार से कुछ पसन्द मत करना। यह ज्ञान की बात हुई। ज्ञान के प्रकाश को ले करके सेवा के क्षेत्र में आदमी को घुसना चाहिए।

जगह-जगह मानव सेवा संघ की शाखाएँ बनी हुई हैं। कई शाखा के सत्संगी भाई-बहन यहाँ उपस्थित हैं तो जब उनके यहाँ सत्संग का समारोह होता है तो कहते हैं कि बहनजी कोई सेवा-प्रवृत्ति शुरु करवा दीजिए, तो बहुत अच्छा रहेगा, जन-समाज का हित होगा तो मैं कहती हूँ कि महाराज जी ने मुझको ऐसा दृष्टिकोण दिया कि देवकी जी, पहले सही सेवक बनाना। तो सही सेवक कहीं बन जाएगा तो उसके द्वारा तुम्हारे

किए बिना बढ़िया-बढ़िया सेवा-कार्य होने लग जाएँगे। तो बाहर से सेवा-कार्य दिखाई देता हो और भीतर से सेवा करने वाले में सुख-लोलुपता बढ़ती जाए, कर्त्तापन का अभिमान बढ़ता जाए तो उसके द्वारा किए गए काम से अगर उसी का कल्याण नहीं हुआ तो उसकी सेवा-प्रवृत्ति से जग का उद्धार हो जाएगा? नहीं होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि आपने जो सेवा-कार्य करने शुरु किए हैं वह छोड़कर बैठ जाएँ, यह अर्थ नहीं है। अपने पास सामग्री है तो सामग्री का उपयोग किए बिना आप छूटेंगे कैसे? तो जीवन-काल में उपयोग कर लेना हैं, नहीं तो कुछ लोग आखिरी घड़ी तक सँभालकर रखे ही रहते हैं, रखे ही रहते हैं। तो पीछे चलकर क्या होगा? तो मैं सोचती हूँ कि जीव-काल में उसका सदुपयोग न कर लिया तो मेरे मरने के बाद कौन गारन्टी है, सदुपयोग होगा। मरने के बाद और कुपात्र के हाथ पड़ गई तो दुरुपयोग होगा कि नहीं होगा। तो इसलिए प्राप्त सामग्री को सेवा के कार्य में लगाना अनिवार्य है। लगाए बिना छुट्टी मिलेगी नहीं। लेकिन कार्य आरम्भ करने से पहले कर्त्ता को ज्ञान के प्रकाश में अपने को निष्क्रिय बना लेना बहुत जरूरी बात है।

तो प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर जगते ही व्यक्तिगत सत्संग के रूप में अकेले में बैठ करके अपने सम्बन्ध में जब विचार करिए तो ज्ञान के प्रकाश में जीवन को देखना, प्रभु-विश्वास में उनकी शरणागति लेकर समर्पण-भाव लेकर शान्त रहना। देहातीत जीवन की अनुभूति के लिए, शरीरों की असंगता में विश्राम लेना, यह सब आपका व्यक्तिगत सत्संग हो गया। यह सब आपका नित्यनियम हो गया। उसके बाद जब कर्म के क्षेत्र में सेवा करने चलें तो इन मौलिक बातों को पाठ दोहराने की तरह दोहरा करके चलें। जो कुछ मेरे पास है, मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं। सब संसार का ही है। और संसार को देना है वापिस और इस भलाई के बदले में समाज जो मुझे अनुकूलता देगा उसका भी भोगी नहीं बनना है, उसका भी भोगी

नहीं बनना है। और फिर कर्त्तापन के अभिमान से free रहना है। तो सेवा करेंगे उसके बदले में कुछ चाहेंगे नहीं। और बिना मेरे चाहे, बिना मेरे माँगे समाज बहुत कुछ देगा तो उसके भोगी नहीं बनेंगे। इनती सावधानी भीतर-भीतर लेकर करके आप सेवा के क्षेत्र में प्रवृत्त होइए और खूब प्रेमपूर्वक सेवा कीजिए। और मैंने तो ऐसा पाया है कि इतना स्पष्ट दृष्टिकोण लेकर सेवा के क्षेत्र में आपने प्रवेश किया तो तन से, मन से पूरी लगन के साथ जो सेवा-कार्य आपके सामने आया है वह कर रहे हैं। उसी बीच में ज्ञान के प्रकाश में आपको याद आ गया कि इसमें से मेरा कुछ नहीं है और प्रभु-विश्वास के भाव में, ध्यान में यह आ गया कि न जाने मेरे भीतर का राग मिटाने के लिए, मेरे परम हित-चिन्तक, मेरे प्यारे प्रभु ही सेव्य बनकर आ गए हैं, सेवा स्वीकार कर रहे हैं। जरा सी देर के लिए चेतना के स्तर पर यह बात आई नहीं, कि उसी समय इतनी सरसता, इतनी रस-तरंग जीवन में भर जाती है कि शरीर जहाँ के तहाँ, ज्यों के त्यों शिथिल, जैसे के तैसे रह जाता है। सेवा करने वाले के भीतर का यह भाव और उसकी यह सरसता बाहर भी फैल जाती है। और जिनकी सेवा आप कर रहे थे उनको भी इतना रस आ जाता है कि वे भी जहाँ के तहाँ जैसे के तैसे, बैठे के बैठे रह जाते हैं, देखते के देखते रह जाते हैं। आनन्द बरसता रहता है दोनों ओर से और काम करने वाले और सेवा लेने वाले दोनों उस रस के प्रवाह में आनन्द लेते शिथिल, जहाँ के तहाँ रह जाते हैं। होता है ऐसा।

मुझे बहुत अच्छा लगता है और इसी आधार पर मरणशील शरीर को लेकर नाशवान् जगत् में सेवा की प्रवृत्ति में लगे हुए साधकों की सेवा में मैं निवेदन करती हूँ कि तुम्हारे व्यक्तित्व की रचना ऐसी विलक्षण है कि अभी-अभी संसार के साथ जगत् का एक अंश बनकर, जगत् के व्यवहार में लगे हैं आप और उसी के भीतर व्यवहार में लगे हुए ही ज्ञान

के प्रकाश में प्रभु-विश्वास के प्रभाव में देहातीत जीवन का अनुभव कर सकते हैं। होता है ऐसा। सत्य है यह। वह रस नित्य-जीवन का रस, परम शान्ति का रस, प्रभु-प्रेम के भाव का रस, वही तो जीवन का रस है। उसी के आधार पर हम भाई-बहन अपनी सत्ता अनुभव कर रहे हैं। उसी के विमुख हो जाने के कारण जगत् में जगह-जगह ठोकरे खाते फिर रहे हैं। जिनको पराया मानते हैं उनकी ठोकरे कड़वी लगती हैं। जिनसे मोह का सम्बन्ध माना है, प्रभु के मंगलमय विधान से अपने निजी आत्मीय सम्बन्धी कहलाने वाले भी ठोकरे देते हैं। और धिक्कार है मेरी जड़ता को कि चेतना नहीं आती। ऐसा होता है कि नहीं? होता है। क्या दुर्दशा करके बैठे हैं देखो तो सही। ऐसा मत करो, ऐसा मत करो लड़के नाराज हो जाएँगे। ऐसा मत कहो, बहू बुरा मानेगी। अरे बेटे-बहू तुम्हारे पास आए तो थे माँ-बाप का राग मिटाने के लिए, कि उनकी गुलामी में बँधने के लिए? जी! सास बनी थी तो पराए घर की बेटी को लाकर अपने राग से मुक्त होने के लिए कि उस पर अधिकार जमा कर उसमें सेवा भोगने के लिए। काहे के लिए सास बनी थी? सोचो तो बड़ा रहस्य है जीवन का। इतना practical है इतना practical है कि अगर इन बातों पर ध्यान नहीं जाता, व्यवहार करने में अगर हम इतने सावधान नहीं होते हैं तो ग्रन्थों के जो महावाक्य हैं वे जीवन में सिद्ध होते हुए अनुभव में तो नहीं आते।

पति बने थे पत्नी के राग से मुक्त होने के लिए कि उस पर अधिकार जमाने के लिए, कि अपनी रूचिपूर्ति में उसको खुराक बनाने के लिए। पत्नी बनी थी पति के राग से मुक्त होने के लिए कि उसको अपनी खुराक बनाने के लिए। तो सत्संग तो ऐसा होना चाहिए कि जीवन के प्रत्येक पहलू को बिल्कुल साफ कर दे। मैंने जब मानव-जीवन के व्यक्तित्व को वैज्ञानिक ढंग से पढ़ा था बड़े गौरव के साथ बड़े गर्व के साथ कि मुझको

बहुत जानकारी है। Theory of personality मनुष्य के व्यक्तित्व के तीन विशेष पहलू three dimensions कर्म, ज्ञान और प्रेम और इस पर बड़ा विषद विवेचन किया गया है। अंग्रेजी में लिखी हुई जो पुस्तकें और ज्ञान है, उनमें उलझ-उलझ करके students को उलझा करके कितना समय बिताया। संत के पास आकर के इतना सहज हो गया इतना सहज हो गया, कि अब तो theory के समर्थन, खंडन-मंडन की कोई जरुरत ही नहीं है।

मनुष्य को जरा सी देर शांत होकर बैठने में, भीतर-भीतर संसार चक्कर काटता है, उसके चिंतन से तुम्हें मुक्त होना है तो बस एक ही व्रत पर्याप्त है। जिसके पास संसार का दिया हुआ जो कुछ है, संसार ! आपकी सेवा में अर्पित है। और बदले में तुम्हें क्या चाहिए भाई? तुम हमको दोगे तो बदले में हम भी तुमको कुछ देंगे। सो नहीं, मुझे तो आपसे कुछ नहीं चाहिए। क्यों? क्योंकि मेरा भरण-पोषण करने वाला, मुझे भरपूर करने वाला, मुझे हर प्रकार से अपनाने वाला, मुझे निजस्वरूप से अभिन्न कराने वाला, मुझे जन्म-जन्मान्तर के ताप से मुक्त करके परम-शीतल, शांत, रसमय बनाने वाला मेरे भीतर है मेरे पास है। तो हे विश्वरूप भगवान् अपने इस विश्वरूप के प्रलोभन से मुझे मुक्त करिए, अपने शांति स्वरूप में मुझे मिलाइए, अपने ज्ञान स्वरूप में मिलाइए, अपने प्रेम स्वरूप में मुझे मिलाइए। ऐसी यह प्रार्थना जब बन जाएगी तो काम हो जाएगा। समय निकल गया अब शांत हो जाइए।

●

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।